ईश्वरकृष्ण...

सांख्यकारिका

[प्रभाऽऽख्यया-हिन्दी-व्याख्यया गौडपादभाष्यान्वय-सहिता]

व्याख्याकार :
डॉ० हरिदत्त शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राचार्य
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

प्रकाशक
साहित्य भण्डार
सुभाष बाजार, मेरठ-२

प्रस्तावना

सांख्योक्त पच्चीस (२५) तत्त्व

१. पुरुष, २. प्रकृति, ३. महत्तत्त्व, ४. अहंकार, ५. शब्द, ६. स्पर्श, ७. रूप, ८. रस, ९. गन्ध, पाँच तन्मात्रायें, १०. आकाश, ११. वायु, १२. पृथ्वी, १३. जल, १४. तेज, पञ्चमहाभूत, और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ ये पच्चीस तत्त्व अथवा पदार्थ हैं।

उक्त पदार्थों के चार विभाग

उक्त पच्चीसों पदार्थ (१) प्रकृति रूप में ही हैं, या (२) विकृति रूप में ही है या (३) प्रकृति-विकृति उभय रूप में है या (४) प्रकृति-विकृति दोनों से भिन्न हैं। प्रधान प्रकृति रूप ही है, महत्तत्त्व, अहंकार और पंच तन्मात्रायें ये सात पदार्थ प्रकृति विकृति उभय रूप हैं, अहंकार से और पंच तन्मात्रायें और ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाश आदि पाँच महाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ ये सोलह पदार्थ केवल विकृति रूप हैं। जीवात्मा या पुरुष न प्रकृति रूप है न विकृति। यह पुरुष प्रति शरीर भिन्न है जैसा कि कणाद मुनि ने लिखा है कि "व्यवस्थातो नाना" इति। सांख्यसूत्र भी यह है "जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्" इति।

प्रधान (प्रकृति) ही जगत् का कर्ता है

क्योंकि यह प्रकृति सुख-दुःख मोहात्मक है एक चिन्तामणि जिसके पास है वह उसके लिए सुखदायक है जिसके पास नहीं है और लेना चाहता है उसको दुःखदायक है और उदासीन के लिए मोह रूप है, क्योंकि मोह शब्द "मुह वैचित्यै" इस धातु से बना है, अतः मोह का अर्थ विचित्तता या विचित्रता है, वाचस्पति मिश्र ने मोह शब्द का अर्थ विषाद किया है, विषाद का अर्थ यहाँ किंकर्तव्यविमूढता है, दुःख नहीं। प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने में सांख्यवृद्धों का यह वचन प्रमाण है।

गुणसाम्यं प्रधानं स्याद् गुणाः सत्त्वं रजस्तमः।
सुखदुःखमोहरूपं दृश्यते हि स्फुट जगत्॥ इति॥

शून्य कार्यवाद

बौद्धों का मत है कि असत् से अर्थात् अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, क्योंकि जब तक बीज गल नहीं जाता, अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, न दूध के विनाश के बिना दही की उत्पत्ति होती है। अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति का अनुमान किया जाता है।

शून्यवाद का खण्डन

यह बौद्धमत युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि वन्ध्या पुत्र से या आकाश के पुष्प से किसी की उत्पत्ति नहीं देखी जाती, न शब्द विषाण से किसी की उत्पत्ति होती। अतः मानना पड़ेगा कि बीजादि अंकुरोत्पत्ति के समय पूर्व रूप को छोड़ देते हैं और रूपान्तर को धारण कर लेते हैं।

असत् कार्यवाद

नैयायिक असत् कार्यवादी हैं इनके मत में घटादि, कारण व्यापार के द्वारा मृदादि कारण से भिन्न बनकर भिन्न होते हुए अपूर्व रूप में पैदा होते हैं अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कार्य नहीं रहता और कारण सामग्री से फिर उत्पन्न होता है। कारण और कार्य दोनों अत्यन्त भिन्न हैं।

असत् कार्यवाद का खण्डन

यह मत भी ठीक नहीं, क्योंकि जो वस्तु कारण में नहीं थी, वह कारण व्यापारों के द्वारा कभी उत्पन्न नहीं की जा सकती, नीला रङ्ग लाखों उपायों से भी पीला नहीं बन सकता, इसलिये कार्य को कारण रूप में सत् या विद्यमान मानना ही चाहिये। अतएव कपिल मुनि ने लिखा है कि "नासदुत्पादो नृशङ्क-वत्" इति।

विवर्तवाद

अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए असत्य भिन्न-भिन्न अनेक रूपों में भाषित होना विवर्त कहलाता है। यह मत मायावादी वेदान्तियों का है। उनका मत है कि जैसे शुक्ति में रजत का ज्ञान होने पर जब अधिष्ठान भूत शुक्ति का ज्ञान होता है तो रजत ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अधिष्ठानभूत ब्रह्म की जानकारी के बाद जगत् आदि प्रपञ्च निवृत्त हो जाते हैं।

।तंवाद का खण्डन

यह मत भी ठीक नहीं क्योंकि वन्ध के विना प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ को मिथ्या नहीं कहा जा सकता, दृश्यमान जगत् प्रत्यक्ष सिद्ध है और उसका वन्ध नहीं होता। अतः उसे विवर्त स्वरूप नहीं वताया जा सकता।

सत् कार्यवाद

सांख्य के मत में कार्य और कारण में अभेद है और दोनों की सत्यता है अतएव तिलों से तेल की, धान्यों से तण्ड्ल की उत्पत्ति होती है जैसा कि सांख्य-वृद्धों ने लिखा भी है:—

तदेव कार्यमुत्पत्तेः पूर्वं कारकरूपकम्।

आविर्भावतिरोभावौ जन्मनाशावुदीरितौ ॥ इति ॥

जोवनमुक्त और विदेहमुक्त में भेद

मुक्त दो प्रकार का है (१) - जीवनमुक्त। (२) विदेहमुक्त।

जिसे तत्व साक्षात्कार होने के वाद प्रारव्ध कर्म के कारण भोग भोगने पड़ते हैं वह जीवनमुक्त है तथा जिसका प्रारव्ध कर्म भोग समाप्त हो चुका है और आत्मसाक्षात्कार भी हो चुका है वह विदेहमुक्त कहलाता है।

सांख्य-मत में जीवात्मा का स्वरूप

सांख्य लोग जीवात्मा को असङ्ग, असाधारण, चेतन, अप्रसवधर्मी और अनेक मानते हैं जैसा कि तेइस नम्वर की कारिका में लिखा है कि वह नित्य है, विभु है, निष्क्रिय है, अलिङ्ग है और निरवयव और स्वतन्त्र है। साथ ही वह शुद्ध स्फटिक के समान स्वच्छ और निर्गुण है।

न्याय और वैशेषिक का आत्मा

न्याय और वैशेषिक के मत में आत्मा, विभु, असंख्येय, नित्य और प्रति शरीर भिन्न है। इतने अङ्ग में यह मत सांख्यमत के समान है किन्तु इनके मत में आत्मा में चौदह गुण रहते हैं, जो निम्नलिखित है। सांख्य, परमहत परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, वुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना नामक संस्कार जिसके कारण किसी अनुभूत वस्तु का कालान्तर में स्मरण होता है।

वेदान्त-मत का आत्मा

अविद्या में प्रतिबिम्बित अथवा अविद्योपहित चैतन्यशक्ति को आत्मा कहते हैं। उपाधि के नाश होने पर जीवात्मा का असली स्वरूप प्रकट होता है—

लिङ्गशरीर

प्रत्येक आत्मा के लिये एक लिङ्गशरीर मिलता है, जो महाप्रलय अथवा मोक्ष तक रहता है, जिसमें सत्रह पदार्थ रहते हैं जो निम्नलिखित हैं—

बुद्धिकर्मेन्द्रिय प्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥ इति ॥

क्या न्यायवैशेषिक लिङ्गशरीर को मानते हैं ?

न्यायवैशेषिक के मत में लिङ्गशरीर नहीं माना जाता, उनके मतानुसार लिङ्ग शरीर का कार्य मन से ही चलता है। मरण के अनन्तर मन अतिवाहिक शरीर के द्वारा अदृष्टवश से एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, इस अतिवाहिक शरीर की कल्पना प्रशस्त पादाचार्य ने की है। अन्य आचार्य ने नहीं, यह मन शरीर के नाश के साथ नष्ट नहीं होता, महाप्रलय में भी इस मन की स्थिति मानी जाती है। मन के सहित शरीर की उत्पत्ति अदृष्टानुसार होती है।

सांख्यमत में मोक्ष का स्वरूप

दुःख का सम्बन्ध बन्ध है और दुःख ध्वंस, मोक्ष, सांख्य-सिद्धान्तों में असङ्ग और निर्विकार जीवात्मा में कर्तृत्व नहीं है अतः विहित या निषिद्ध कर्मों के आचरण द्वारा धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः यद्यपि पुरुष का मोक्ष सम्भव नहीं तथापि बन्ध और मोक्ष बुद्धि में होते हैं, उनका पुरुष में उपचार से व्यवहार किया जाता है क्योंकि बुद्धि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घटादि देश को प्राप्त करती है और घटादि रूप में परिणत होती है, इसी का नाम ज्ञान है। उस ज्ञान से सम्बन्धित घटादि विषय कहलाते हैं। घटादि ज्ञान के आकार वाली बुद्धि जब भेद या विवेक के न होने पर पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है, पुरुष के स्वरूप को ढक देती है, इसी का नाम बन्ध या संसार है, विवेक द्वारा बुद्धि के नाश होने पर उसके परिणाम घटादि का ज्ञान न होने से विषय सम्बन्ध नहीं रहता और पुरुष की यह कैवल्यावस्था मोक्ष कहलाती है।

न्यायवैशेषिक का मोक्ष

मनुष्य जब गुरु और शास्त्रों के उपदेश से निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देता है, तब निष्काम भाव से शुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है, धीरे-धीरे नवीन सुख-दुःख के बीजों की उत्पत्ति नहीं होती और धीरे-धीरे पूर्व संचित पाप और पुण्य, भोग से नष्ट हो जाते हैं तथा अदृष्ट के वश से मन का सम्बन्ध भी आत्मा से नहीं रहता। तब जीवात्मा मुक्त कहलाता है इस मोक्ष दशा में सुख-दुख दोनों में से किसी का अनुभव नहीं होता, मन में जड़ता आ जाती है और आत्मा में ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती, यही न्यायवैशेषिक का मोक्ष है।

ईश्वरकृष्ण कौन था ?

कपिल ने आसुरी को और आसुरी ने पंचशिख को सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया और शिष्य-परम्परा से वही उपदेश ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ, यह ईश्वरकृष्ण शंकराचार्य से प्राचीन हैं और ये विन्ध्याचल में रहते थे। इसलिये इनका नाम विन्ध्यवासी था, ऐसा लोगों का मत है। कुमारिल भट्ट ने भी इनका उल्लेख किया है—

अन्तराभवदेहो हि नेष्यते विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते ।। इति ।।

कुछ आचार्यों की यह कल्पना है कि भगवान कृष्ण का नाम ही ईश्वरकृष्ण है। द्वैपायन व्यास की व्यावृत्ति के लिये ईश्वर पद जोड़ा है किन्तु इस कल्पना में कई प्रमाण नहीं है।

पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है या बुद्धि का पुरुष में—

वाचस्पति मिश्र के मत में "गोधश्च पौरुषेय परम प्रभा तत्साधनं प्रमाणं" यह कार्य चौथी कारिका में तत्त्वकौमुदी में लिखा मिलता है।

जिसका तात्पर्य यह है कि मुख्य प्रभा वह जो कि पुरुषवर्ती बोध है और वही चित्तवृत्ति का फल है। "द्वयोरेकतरस्य वाऽप्य सन्निकृष्टार्थ परिच्छित्तिः प्रभा'। इति। (अध्याय १—सूत्र ८१ सां० दर्शन) इस सूत्र का अर्थ यह है कि असन्निकृष्ट अर्थात् प्रमाता के ज्ञान में अनारूढ या अनधिगत जो अर्थ है उसकी परिच्छित्ति अर्थात् अवधारण प्रभा कहलाती है और वह प्रभा द्वयो=बुद्धि और

पुरुष दोनों से उत्पन्न होती है। बुद्धि और पुरुष दोनों का धर्म है अथवा इन दोनों में से एक का धर्म है। दोनों अवस्थाओं में इस प्रभा का कारण प्रमाण कहलाता है। यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि चित्तगत वृत्ति का फल पुरुषवर्ती बोध कैसे हो सकता है क्योंकि खादिर गोचरपरशु व्यापार से पलाश का छेदन नहीं होता, इसका समाधान यह है कि चित्तवृत्ति के द्वारा पुरुषगत बोध उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु चैतन्य स्वरूप पुरुष तत्तत् अर्थोपरक्त बुद्धि दर्पण में प्रतिबिम्बित होने पर बुद्धि वृत्ति के आकार वाला होता हुआ फल कहलाता है। सारांश यह है कि बोध पुरुषनिष्ठ नहीं कहा जा सकता जिससे कि प्रभातृत्व आदि धर्मों की उत्पत्ति होने के कारण वह पुरुष परिणामी हो सके किन्तु बुद्धि में चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने से बुद्धिवृत्ति के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए पुरुष ज्ञानादि मत्व का उपचार होता है इसी का नाम बोध का पौरुषेयत्व है। वस्तुतः बोध बुद्धि वृत्यात्मक ही होता है। पुरुष का धर्म नहीं। अतएव योग भाष्यकार ने योगदर्शन में प्रथम पद के सातवें सूत्र के भाष्य में लिखा है कि—

फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः,
बुद्धेः प्रति संवेदी पुरुषः ॥ इति ॥

जैसे चन्द्रमा में क्रिया के न होने पर भी यदि चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब तालाब में पड़े तो तालाब के निर्मल जल के चलने पर वह प्रतिबिम्ब भी चलता सा प्रतीत होता है। वस्तुतः अचल होने पर भी इसी प्रकार पुरुषगत व्यापार के न होने पर पुरुष के प्रतिबिम्ब वाली बुद्धि निर्लिप्त चिति शक्ति को स्वगत ज्ञानादि क्रिया के द्वारा पुरुष प्रभातृत्व ला देती है। वस्तुतः न पुरुष में प्रभातृत्व है और न पुरुष में कोई बोध रूपी फल होता है।

इस विषय में विज्ञान भिक्षु का मत

आचार्य विज्ञान भिक्षु ने उक्त वाचस्पति मिश्र के मत का खण्डन किया है, यह खण्डन योगदर्शन के प्रथम पाद के चतुर्थ और सप्तम् सूत्र में योगवार्तिक टीका में मिलता है तथा सांख्यदर्शन के अध्याय प्रथम सूत्र ८७ के सांख्य-प्रवचन-भाष्य में भी उपलब्ध होता है। उनका कथन है कि बुद्धि में प्रभावरूपी फल उत्पन्न नहीं होता यदि ऐसा माना जायगा तो व्यास भाष्य में आये पौरुषेय शब्द का यथाश्रुत अर्थ छोड़ना पड़ जायेगा तथा प्रतिबिम्ब मिथ्या होता है।

अतः प्रतिबिम्ब मात्र से अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, न प्रतिबिम्ब के द्वारा प्रकाश का ज्ञान ही कहीं उत्पन्न होता है, इसलिए यह मानना चाहिये कि इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा सर्वप्रथम बुद्धि से अर्थाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। तदनन्तर अर्थोपरक्त बुद्धिवृत्ति प्रतिबिम्ब रूप से पुरुषरूढ हो जाती है अर्थात् केवल चिति-शक्ति का बुद्धि में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता किन्तु बुद्धि वृत्ति का भी प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है अर्थात् दोनों में प्रतिबिम्ब होते है।

दूसरी बात यह है कि 'पौरूषेय' शब्द में 'सर्वपुरुषाभ्यां याढजौ ५/१/१० इस सूत्र से "पुरुषाद्वध विकार समूह तेन कृतेषु" इस वार्तिक के अनुसार विकार अर्थ में ढञ् प्रत्यय हुआ है। अतः पुरुष में भी बुद्धि वृत्ति का प्रतिबिम्ब मानना ही चाहिए। अतएव आदित्यपुराण में लिखा हैं कि—

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा बुद्धि सन्निधि सत्तया।
यथा यथा भवेद् बुद्धिः आत्मा तद्वदिहेष्यते॥

अपि च—

कस्मिश्चिद् दर्पण स्फारे समस्ताः वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥ इत्यादि।

अतः परस्पर प्रतिबिम्ब मानना ही उचित है।

विज्ञान-भिक्षु-मत-पर्यालोचन

यह मत विचारने पर ठीक नहीं बैठता क्योंकि योगदर्शन के दूसरे पाद के बीसवें सूत्र में पुरुष को प्रत्ययानुपश्य लिखा है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोपि प्रत्ययानुपश्यः। (योग २/२०)

यहाँ प्रत्ययानुपश्य का अर्थ है बुद्धि वृत्ति के साथ तादात्म्य को प्राप्त होने के बाद बुद्धि वृत्ति का अनुकरण करने वाला इसी प्रकार चतुर्थ पाद के बाईसवें सूत्र में स्वबुद्धि सवेदन विशेषण आया है—सूत्र इस प्रकार है—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धि संवेदनम्॥

इस सूत्र में पुरुष को अप्रतिसंक्रमणीय कहा है ऐसा ही पंचशिखाचार्य भी मानते हैं तथा स्वयं विज्ञान भिक्षु ने सांख्य-सूत्र के पहले अध्याय के ८७ वें सूत्र के सांख्यप्रवचनभाष्य में लिखा है कि—

असङ्गो ह्ययं पुरुषः ।।
पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव न प्रमाता ।।

अतः उनका कथन अपने ही सिद्धान्त का स्वयं विरोध कर रहा है । यह कहना कि पौषेरुय शब्द का स्वारस्य पुरुष में प्रतिविम्व मानने पर है । यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि पुरुष का स्वत्व पारमार्थिक हो या औपचारिक दोनों अर्थों में ढञ् प्रत्यय हो सकता है । अतः यहाँ औपचारिक पुरुष निष्ठता मानी जा सकती है । वास्तविक नहीं । चित् दर्पण में जो पुराण-वाक्य से प्रतिविम्व दिखाया गया है उसका भी पुरुप सूत्र और आचार्यों के वचनों के अनुसार दर्पण के समान स्वच्छ चैतन्य रूप पुरुष में ये वस्तु दृष्टियाँ अर्थात् वुद्धि के धर्मसूत्र ज्ञान अविवेक के कारण प्रतिभाषित होते हैं, यह अर्थ करना चाहिये । आगे चलकर योग वार्तिक में विज्ञान भिक्षु ने लिखा है कि—

"आरोपितया क्रियया कल्पितं दर्शनकर्तृत्वं
वस्तुतस्तु बुद्धेः साक्ष्येव पुरुषः ।"

इस कथन के साथ भी विज्ञान भिक्षु का स्वयं विरोध होता है क्योंकि यहाँ वे पुरुप को वुद्धि का साक्षी ही कह रहे हैं । यह कहना कि प्रतिविम्व कहीं अर्थ क्रियाकारी नहीं देखा गया क्योंकि प्रतिविम्व तुच्छ होता है, यह कथन जड़ प्रतिविम्वों में भले ही चरितार्थ हो, चेतन प्रतिबिम्वों के विषय में अर्थ क्रिया कारित्व मानना उचित नहीं । यह कहना कि सूत्रकार ने प्रभा को पुरुषगत भी वतलाया है और वुद्धिगत भी । इसलिये सूत्रकार दोंनों के परस्पर प्रतिबिम्ब के पक्षपाती हैं यह तात्पर्य निकालना ठीक नहीं क्योंकि सूत्र में आये हुये 'वा' शब्द से दोनों के प्रभात्व के प्रति अनावस्था सूचित की है । अतः चित्त वृत्ति को प्रमाण और पौरुपेय वोध को फल प्रभा मानना ही उचित है । अयसकान्त मणि के समान यदि चेतन पुरुप भी बुद्धि वृत्ति में बिना उसके अपने में प्रतिबिम्ब के चैतन्य को अवभावित कर दे तो क्या आश्चर्य है ? अतः विज्ञान भिक्षु का मत सूत्र भाष्य युक्ति और आचार्यों के विरुद्ध है, वह उनकी अपनी ही युक्ति से स्वयं विरुद्ध है ।

सांख्य-संज्ञा-विचार

सांख्य शब्द 'संख्या' से बनता है जिसका अर्थ है गिनती और विचार। अतः जिसमें गणना हो वह सांख्य है अथवा जिसमें विचार किया गया हो वह सांख्य है। गणना से यहा आशय है पदार्थों की गणना से अर्थात् जिस शास्त्र में पदार्थों की गणना की गई है उसे कहेंगे (सांख्य)। इस शास्त्र में प्रकृति आदि २४ पदार्थों की गणना की गई है अतः यह सांख्य कहलाया।

महाभारत में कहा भी है—

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्यं प्रचक्षते ॥
दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः ।
कश्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ महाभारत

इस प्रकार पदार्थ-गणना की दृष्टि से यदि किसी शास्त्र को सांख्य नाम देना हो तो सर्वप्रथम यह संज्ञा वैशेषिक और न्याय की होनी चाहिये क्योंकि उनमें (वैशेषिक में) सर्वप्रथम षट्पदार्थों की गणना की गई है अनन्तर न्याय में १६ पदार्थों की।

अतः यह शास्त्र 'संख्या' करने में सांख्य कहलाया, यह मानना ठीक नहीं। सांख्य शब्द का अर्थ है—भिन्नता ज्ञान अथवा 'विवेक ज्ञान' यह समस्त दृष्ट संसार प्रकृति एवं पुरुष के अभिन्नत्व ज्ञान के फल-स्वरूप ही है। जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि अपरिणामी पुरुष परिणामिनी प्रकृति से भिन्न है, तब हमें मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। सांख्यशास्त्र का यही मुख्य अभिप्राय है। इसी से इसका नाम सांख्यशास्त्र पड़ा। संखमिति पुरुषनिर्मित्त ये संज्ञा। संखस्य इमे सांख्याः। हरिभद्रसूरिः।

सांख्यकारिका

आचार्य ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका 'सांख्यशास्त्र का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने भी अपने शारीरिक-भाष्य में सांख्य-मत का निरूपण करते समय सांख्य-सूत्रों को उद्धृत न करके कारिकाओं को ही उद्धृत किया है। इससे इसकी प्रमाणिकता सिद्ध होती है। छठी शताब्दी में इसका अनुवाद चीनी भाषा में किया गया, जिसे परमार्थ ने किया।

चीनी भाषा में इसे 'हिरण्य–सप्तति' या 'सुवर्ण-सप्तति' कहते हैं। जापानी विद्वान् डॉ तकाकसू, ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवासी को अलग-अलग आचार्य स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। उन्होंने दोनों आचार्यों की एकता स्वीकार की है, किन्तु दोनों आचार्यों के समय एवं सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर है। इस-लिये दोनों आचार्यों की अभिन्नता स्वीकार नहीं की जा सकती। ईश्वरकृष्ण का आविर्भाव–काल चतुर्थ शतक से भी पहले का है। विन्ध्यवासी इनके काफी बाद में हुए। जैन-ग्रन्थ 'अनुयोगद्वार सूत्र', 'काविलं', 'सट्ठितंतं', 'माठर' आदि के साथ 'कणगसत्तरी' का उल्लेख मिलता है। 'कणगसत्तरी' सांख्य-ग्रन्थ प्रतीत होता है, क्योंकि सांख्यकारिका का चीनदेशीय नाम 'सुवर्ण-सप्तति' है। अतएव यह 'कणगसत्तरी' निश्चय ही सांख्यकारिका का नामान्तर है। इस उल्लेख से ईश्वरकृष्ण द्वारा रचित 'सांख्यकारिका' प्रथम शताब्दी के बाद की नहीं मानी जा सकती है।

सांख्य के निर्माता कपिल कौन से हैं—

संस्कृत वाङ्मय में अनेक कपिलों की उपलब्धि होती है, इनमें से दार्शनिक क्षेत्र में केवल एक ही कपिल हैं और वे हैं—'सिद्ध कपिल' किन्तु पुराणकारों के उर्वर मस्तिष्क ने यहाँ भी कपिलों की कल्पना कर ली है। इतना ही नहीं क्रमशः उनके शिष्य आसुरि भी दो मान लिये हैं। यह इसीलिये कहा गया कि कपिल ठहरे आदि विद्वान्, ऋषि होकर निरीश्वरवाद सम्पन्न शास्त्र की रचना भला कैसे कर सकते थे? पद्मपुराण में लिखा है—

कपिलोवासुदेवाख्यं सांख्यतत्वं जगादह।
ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यः भृग्वादिभ्यस्तथैव च॥
तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपबृंहितम्
सर्वं वेदविरुद्धं च कपिलो ऽन्यो जगादह।
सांख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्क परिबृंहितम्॥

अर्थात् वासुदेव कपिल ने ब्रह्मादि तथा भृगु आदि एवं आसुरि को वेदार्थ सम्मत सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया। उसी प्रकार एक-दूसरे कपिल ने वेद-विरुद्ध सांख्य का अपदेश आसुरि को दिया। यह श्लोक श्री बलदेव विद्याभूषण ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में २-१२२ पर उद्धृत किया है। इसी प्रकार का एक

उल्लेख कालिकापुराण में भी आता है। वहाँ तो कपिल के साथ-साथ एक दूसरे महीदास तथा कृष्ण की भी कल्पना की गई है। इस विषय के सूचक पद्य श्री मध्वाचार्य ने अपने छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य में उद्धृत किये हैं। भगवान् शंकर भी वासुदेवावतार कपिल से भिन्न कपिल को सांख्यशास्त्र का प्रवर्तक मानते हैं। निम्बकाचार्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान में 'वेद विरुद्ध स्मृति कर्तापि कपिल नामकः कश्चिद् 'कणादादिवन्मुनिरेव' (वे० द० २–१–१)। इस प्रकार लिखकर सांख्यशास्त्र प्रवर्तक एक दूसरे कपिल को माना है। इस सब पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने से इतना तो अवश्य ही प्रमाणित होता है कि ये सांख्यशास्त्र 'सिद्ध कपिल' विष्णु के अवतार कपिल से भिन्न है। अतएव ये ऐतिहासिक व्यक्ति हैं केवल काल्पनिक नहीं।

कोलब्रुक जैकोवी और मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कपिल को काल्पनिक व्यक्ति माना है। वित्तन् कीथ का कहना है कि कपिल-पद हिरण्य-गर्भ का पर्यायवाची है, और अग्नि, विष्णु तथा शिव आदि के साथ कपिल की एकात्मता अथवा तद्रूपता का भी उल्लेख संस्कृत-साहित्य में मिलता है। इसलिये कहा जा सकता है कि कपिल नाम का कोई वास्तविक व्यक्ति नहीं था।

कुछ विद्वानों का विचार है कि कपिल नाम के चार ऋषि हुए हैं। उसमें से (१) तक तो वे हैं कलयुग में हुए हैं, जो गौतम ऋषि की सन्तान बताए जाते हैं तथा जिनके नाम पर कपिलवस्तु नामक नगरी बसाई गई। ऐसा प्रमाण बौद्ध-ग्रन्थों से मिलता है। बहुत से विदेशी विद्वान् इन्हीं को सांख्यशास्त्र का प्रणेता मानते हैं, किन्तु यह उनका भ्रममात्र है। (२) दूसरे कपिल वे हैं जो ब्रह्मा जी के पुत्र माने जाते हैं और जो आदि विद्वान् माने जाते हैं। (३) तीसरे कपिल अग्नि के अवतार थे। (४) चौथे कपिल देवहूति और कर्दम ऋषि के पुत्र थे।

ब्रह्मसुत कपिल

ब्रह्मा के पुत्र कपिल देव ही आदि कपिल हैं और वे ही सांख्यशास्त्र के रचयिता हैं। सांख्यकारिका के भाष्यकार आचार्य गौड़पाद ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है –

इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम तद्यथा।
'सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ॥

आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पंचशिखस्तथा ।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः ॥

ये ही पद श्री तैलंग महोदय ने कुछ भेद से उद्धृत किये हैं—

"सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
आसुरिः कपिलश्चैव बोढुः पंचशिखस्तथा ।
सप्तैते मानसाः पुत्रा ब्रह्मणः परेमेष्ठिनः ॥

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के २१ वे अध्याय के प्रारम्भ में विदुर के प्रश्न का उत्तर मैत्रेय ने इस प्रकार दिया है—ब्रह्मा ने भगवान् कर्दम को प्रजाओं की सृष्टि करने का आदेश दिया। कर्दम ने सरस्वती-तट पर चिरकाल तक घोर तपस्या कर भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया। विष्णु ने वरदान दिया कि जब राजा मनु अपनी शीलसम्पन्न पुत्री देवहूति का विवाह-सम्बन्ध कर्दम से कर देगा, तब वे स्वयं ही उनके पुत्र के रूप में अवतरित होंगे तथा तत्वसंहिता का निर्माण करेंगे।

कर्दम और देवहूति का पुत्र कपिल, ब्रह्मा का मानस-पुत्र कपिल एवं अग्नि अवतार कपिल एक ही हैं और यही कपिल सांख्यशास्त्र के प्रणेता हैं।

७२ कारिकाओं के ग्रन्थ का सप्तति नाम क्यों ?

इस ग्रन्थ का सप्तति नाम निम्नलिखित कारणों से हैं—

(१) अभिनवगुप्ताचार्य 'परमार्थ सार' नामक ग्रन्थ में १०५ आर्या हैं। परन्तु ग्रन्थकार स्वयं अन्तिम आर्या में 'आर्याशतक' कहकर इसका उल्लेख करता है।

(२) आर्या क्षेमेन्द्र-प्रणीत पुरुषार्थशतक' में १०५ श्लोक हैं।

(३) गोवर्धनाचार्य रचित 'आर्यासप्तशती' में कुल ७५६ श्लोक हैं। ग्रन्थ की प्रारम्भिक भूमिका के ५४ श्लोक हैं तथा श्लोक उपहार के हैं। मुख्य विषय पर ६९६ श्लोक हैं। फिर भी इस ग्रन्थ के नाम में कोई अनौचित्य नहीं समझा गया।

(४) श्री सतवाहन प्रणीत गाथासप्तशती' के कुल श्लोकों की संख्या ७०३ है, जिनमें से ६ श्लोक उपक्रम एवं उपसंहार के हैं और शेष ६९७ मुख्य विषय पर हैं, फिर भी इस ग्रन्थ का नाम सप्तशती है।

(५) साम्ब कवि रचित 'साम्ब पंचाशिका' नामक लघु काव्य में ५३ श्लोक हैं परन्तु इसका नाम पंचाशिका' है ।

(६) राजा रघुराजसिंह कृत 'जगदीशशतक' नाम लघुकाव्य में ११० पद्य हैं, फिर भी काव्य का नाम 'शतक' है ।

उपर्युक्त तथ्यों का विवेचन करने से यह स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य-परम्परा में ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं, जहाँ इस प्रकार के प्रयोग लगभग संख्या के आधार पर किये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि ७२ कारिकाओं के इस ग्रन्थ का नाम अनुचित नहीं है ।

सर्वप्रथम प्रो० विलसन (Pro. Willson) ने संख्या विषयक संदेह प्रकट किया था किन्तु वह कारिका कौनसी थी यह वे पता न चला सके । अनन्तर लोकमान्य तिलक ने इस विषय में अनुसन्धान करके गौड़पादभाष्य के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा एक कारिका ढूंढ निकाली । जिसका स्थान उन्होंने ६१ वीं कारिका के आगे निरूपित किया । वह कारिका निम्न है—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभाव वा ।

प्रजा: कथं निर्गणतो व्यक्तः कालः स्वभाव च ।।'

लोकमान्य का यह कहना है कि यह कारिका ईश्वर का निराकरण करती है, अतः किसी ईश्वर भक्त ने इसे पृथक् कर दिया होगा । यह सब विषय उन्होंने मैसूर से प्रकाशित होने वाले अक्टूबर १११५ के Sanskrit 'Research' के प्रथम खण्ड की दूसरी संख्या में व्यक्त किया है । डॉ० हरदत्त कारिका के लुप्त होने से तो सहमत हैं, किन्तु उन्हें इस कारिका के स्वरूप में (पाठ में) विप्रतिपत्ति है । म० म० श्रीधर पाठक तथा श्री सूर्यनारायण शास्त्री इस विचार से सर्वथा असहमत हैं ।

वास्तव में एक नहीं दो कारिकायें लुप्त हुई हैं, क्योंकि ६९ वीं कारिका विषय का प्रतिपादन न करके विषय की कार्यमूलकता बताने वाली है । इसमें से एक का उद्धार तो लोकमान्य तिलक महोदय ने किया है किन्तु उन्होंने जहाँ उसे रखा है वहाँ नहीं रखना चाहिये था । लोकमान्य के समय तक सांख्यकारिका की 'जयमंगला' टीका प्रकाशित नहीं हुई थी । उन्होंने गौड़पादभाष्य के आधार पर इस लुप्त कारिका का उद्धार किया और उसे ६१ वीं कारिका के आगे स्थापित

किया किन्तु इस कारिका को यहाँ स्थापित करने की तुक कुछ समझ में नहीं आती क्योंकि यहाँ किसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की चर्चा नहीं चल रही है। जिसके निषेध या उपपादन के लिये उक्त कारिका की आवश्यकता थी। वस्तुतः वह कारिका ५५ वीं कारिका के आगे आनी चाहिये, क्योंकि ऊपर त्रिविध सर्ग निरूपण किया गया है। इस सर्ग की कारण विप्रतिपत्ति निराकरण करने के लिये एक कारिका की आवश्यकता है, शंकराचार्य द्वारा लिखित ५६ वीं कारिका की उत्थानिका देखने से यह पता चलता है और इसका रूप होना चाहिये —

"ईश्वर कारणमेके ब्रुवते पुरुषं परे स्वभावं या।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तश्चाय स्वाभास्वतु ॥"

एक और दूसरी भी ४७ कारिका के अनन्तर होनी चाहिये थी जो विपर्यय पाँच प्रकार का होता है, तुष्टि नौ प्रकार की तथा सिद्धि आठ प्रकार की होती है। इससे अव्यवहित अग्रवर्ती कारिका में तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र के भेद गिनाये गये हैं, किन्तु ये तम, मोह आदि हैं क्या ? आये कहाँ से ? इसका परिज्ञान भी तो कराना चाहिये था। इसी के लिये ४७ वीं कारिका के आगे तम आदि को बताने वाली एक कारिका निम्न होनी चाहिये—

उक्ताः विपर्ययभेदाः पंचतमो मोहोऽथ महामोहः।
त्रयो भवन्ति, पुनर्द्वौ तामिस्र श्चान्धतामिस्रः॥

तत्त्वोपप्लव सिंह के सांख्य निरसन प्रकरण को देखने से यह सत्य अत्यन्त प्रमाणित होता है।

षष्टितंत्र और साँख्यशास्त्र

इसके निर्माताओं के विषय में भिन्न-भिन्न ४ मत हैं—

(१) 'षष्टितंत्र' सांख्यशास्त्र के एक ग्रन्थ विशेष का नाम है और उसके रचयिता श्री पंचशिखाचार्य हैं।

(२) 'षष्टितंत्र' सांख्यशास्त्र का एक ग्रन्थ विशेष है और उसके रचयिता श्री वार्षगण्य हैं।

(३) 'षष्टितंत्र' सांख्यशास्त्र का महर्षि कपिल प्रणीत ग्रन्थ विशेष है।

(४) 'षष्टितंत्र' किसी ग्रन्थ विशेष का नाम नहीं, अपितु सांख्यशास्त्र की एक सामान्य संज्ञा मात्र है।

प्रथम पक्ष मानने वालों की युक्ति है कि—

श्री वास्चपति मिश्र से भी प्राचीन समय में 'षष्टितंत्र' ६० पदार्थों के प्रतिपादन के कारण षष्टितंत्र' नाम से प्रसिद्ध था, जैसा कि राजवार्तिक के लेख से प्रतीत होता है। वाचस्पति मिश्र के उत्तरवर्ती समय में श्रीनारायणतीर्थ ने भी षष्टितंत्र की पदव्याख्या की है।

द्वितीय पक्ष मानने वालों की युक्ति है कि—

योगदर्शन-कैवल्यपाद सूत्र १३ के व्यासभाष्य में उद्धृत गुणानां परमं रूप" आदि श्लोक टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने 'गुणानां परमं रूपं' आदि श्लोक को जिसे कि उन्होंने योग भाष्य की टीका में षष्टितंत्र का ठहराया है, उद्धृत करते हुए पातनिका रूप में लिखा है 'अतएव योगशास्त्र' व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः।' इससे प्रतीत होता है कि श्री वाचस्पति मिश्र के विचार में षष्टि-तंत्र श्री वार्षगण्य की कृति है।

ईश्वरकृष्ण ने लिखा है कि मैंने षष्टितंत्र को संक्षिप्त करने का यत्न किया है। चीनी साहित्य से विदित होता है कि विंध्यवासिन् (ईश्वरकृष्ण का चीनी नाम) ने वार्षगण्य के ग्रन्थ का द्वितीय संक्षिप्त संस्करण किया है। अतः षष्टितंत्र वार्षगण्य रचित ही ठहरता है।

तृतीय पक्ष मानने वालों की युक्ति है कि—

वेदान्त अ० २ पा० १ सू० १ की भामती में तन्यतेत्युत्पाद्यते मोक्षशास्त्र-मत्रेति तंत्र तदेवाख्या यस्याः सा स्मृतिः तंत्राख्या परमर्षिणा कपिलेनादिविदुषा प्रणीता। अत एव तथा—

योगदर्शन समाधिपाद सूत्र २५ की तत्त्ववैशारदी टीका में तथा चोक्तम् पंचशिखाचार्येण—आदि विद्वान्···परमर्षिरासुरये जिज्ञासामानाय तत्रं प्रोवाच' का समर्थन किया है अतएव श्री वाचस्पति मिश्र के विचार में षष्टितंत्र श्री कपिल की कृति है।

'वेदान्त-दर्शन' भास्कर भाष्य में उपरोक्त सूत्र की व्याख्या में कपिल महर्षि प्रणीत षष्टितंत्राख्यस्मृते ''आदि प्रमाण से तथा अहिर्बुध्नसंहिता एवं जैन साहित्य कल्पसूत्र अनुयोगद्वार सूत्रादिग्रन्थों की टीका आदि में 'षष्टितंत्र कपिल शास्त्र' आदि वचन मिलते हैं। उनमें भी यही सिद्ध होता है कि षष्टितंत्र के रचयिता महर्षि कपिल ही हैं।

चतुर्थ पक्ष मानने वालों की युक्ति—

'ताका कुसू' के लेख में स्पष्ट रूप में पंचशिखाचार्य को ही सांख्यशास्त्र पर ६० हजार श्लोकों के षष्टितंत्र ग्रन्थ का रचयिता माना है। सांख्य-कारिका ७० हैं 'तेन बहुधाकृतं तंत्रम्' से भी यही प्रतीत होता है कि पचशिख ने ही तंवत्रहुधा-षष्टिधा किया अर्थात् षष्टितंत्र की रचना पंचशिखाचार्य ने ही की।

इस कारिका का श्री बालरामोदासीन की टीका ने जिस अंश की पूर्ति श्रीरामावतार ने की है, उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से पंचशिखाचार्य को षष्टितंत्र-ग्रन्थ का निर्माता माना है।

उपरोक्त चार पक्षों में से प्रथम पक्ष ही अधिक रुचिकर प्रतीत होता है, क्योंकि 'अहिर्बुध्न्य संहिता' के १२ वे अध्याय में इन्हीं सम्पूर्ण बातों का वर्णन आया है तथा इसी वर्णन के आधार पर षष्टितंत्र वाला सांख्यशास्त्र दो भागों में विभक्त है। जिसमें से पहले भाग को प्राकृत मण्डल और दूसरे को वैकृत-मण्डल कहते हैं। प्राकृत मण्डल और वैकृतमण्डल दोनों फिर क्रमशः ३२ तथा २८ भागों में विभक्त है। इन सब के अवान्तर विभागों की गणना ऊपर के श्लोकों में दी गई है। इस गणना के अनुसार कपिल सांख्यशास्त्र (दर्शन के ६० विभाग हैं और इनमें भी एक विभाग के अनेकानेक अवान्तर विभाग हैं, जो लोग षष्टितंत्र को स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मानते हैं, अपितु षष्टि पदार्थ प्रतिपादन को ही 'षष्टितंत्र' संज्ञा का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं, उसके यहाँ वो राज-वार्तिक अथवा नारायण तीर्थ के ६० पदार्थों की ही भाँति एक यह तीसरा विकल्प भी हो जाता है और उनकी दृढ़ धारणा को और भी दृढ़ बनाने में सहायक होता है। दूसरी ओर षष्टितंत्र को सांख्य की एक साधारण संज्ञा न मानकर एक विशेष ग्रन्थ मान लेने से भी इस वर्णन की संगति बड़ी सुन्दरता के साथ लग जाती है। इस मत में इस वर्णन के अनुसार जैसा कि पहले लिख चुके हैं षष्टितंत्र दो भागों में समाप्त हुआ है जिनमें से प्रथम भाग ३२ अध्याय के प्रतिपाद्य विषय भिन्न हैं। प्रकृति-वर्णन से यदि उन अध्यायों की विषय-सूची आधुनिक शैली पर तैयार की जाय तो वह निःसन्देह बड़ी महत्वपूर्ण सूची होगी और उस सूची का अवलोकन कर असली ग्रन्थ के विस्तार तथा प्रौढ़ता का परिचय भलीभाँति मिल सकेगा। सूची निम्न प्रकार है—

षष्टितंत्र की विषय सूची—

प्रथम भाग—प्राकृत मण्डल

क्रम तंत्र	विषय	क्रम तंत्र	विषय
१	ब्रह्म विचार	१७.	हस्त कौशल निरूपण
२	पुरुष विवेक	१८	पादकृत्य निरूपण
३	शक्ति-ईश्वर-निर्णय	१९	वाग् विषय विवेक
४	नियति निर्णय	२०	उपस्थकृत्य
५	कालचिन्ता	२१	गुद कृत्य
६	सत्वनिरूपण	२२	रूपतन्मात्र
७	रजोनिरूपण	२३	रसतन्मात्र
८	तमोनिरूपण	२४	गन्धतन्मात्र
९	अक्षर-प्रकृति-स्वरूप	२५	स्पर्शतन्मात्र
१०	प्राणतत्त्व समीक्षा	२६	शब्दतन्मात्र
११	कर्तृत्वविवेक समीक्षा	२७	पृथ्वी निरूपण
१२	स्वामित्वविवेचन	२८	जल निरूपण
१३	श्रवण-ज्ञान-प्रक्रिया	२९	तेजो निरूपण
१४	घ्राणज प्रत्यक्ष प्रक्रिया	३०	वायु निरूपण
१५	रसना प्रत्यक्ष प्रक्रिया	३१	आकाश निरूपण
१६	त्वचा प्रत्यक्ष प्रक्रिया		——

द्वितीय भाग—वैकृत मण्डल

क्रम काण्ड	विषय	क्रम काण्ड	विषय
१	कृत्याकृत्य विचार	८	अविद्यानिरूपण
२	कृत्यविचार	९.	अस्मितानिरूपण
३	कृत्यविचार	१०	रागनिरूपण
४	कृत्यविचार	११	द्वेषनिरूपण
५	कृत्यविचार	१२	अभिनिवेशनिरूपण
६	भोगविवेचन	१३	प्रत्यक्षनिरूपण
७	वृत्त-संसार-चक्र विवेक	१४	अनुमाननिरूपण

१५	शब्दनिरूपण	२२	दृष्टि अहंकार-निरूपण
१६	ख्यातिनिरूपण	२३	आनुश्रविक-यज्ञादि विवेक
१७	धर्मविवेचन	२४	दुःख यज्ञादि-संसवत्त विवेक
१८	वैराग्य काण्ड	२५	सिद्धि काण्ड
१९	ऐश्वर्य-सिद्धि-काण्ड	२६	काषायनिरूपण
२०	गुणनिरूपण	२७	समय···निरूपण
२१	लिङ्ग-महत्व निरूपण	२८	मोक्षनिरूपण

अहिर्बुध्न्य 'सहिता' के उपरोक्त वर्णन तथा उसके आधार पर तैयार की गई विषय-सूची को देखकर यदि षष्टितंत्र नामक ग्रन्थ विशेष की कल्पना की जाय तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ बड़ा ही प्रौढ़ ग्रन्थ रहा होगा। परन्तु इस वर्णन की संगति दोनों पक्षों में समान रूप से लग सकती है अतएव इसे किसी एक पक्ष का विनिगमक हेतु नहीं ठहराया जा सकता है। फिर भी ग्रन्थवादियों की ओर से प्रस्तुत किये गये हेतुओं में यह अन्यों की अपेक्षा अधिक जोरदार है।

उपरोक्त डॉ० तकाकुसु के मत का खण्डन करते हुए श्रीवेल्वलकर ने कहा है कि विन्ध्यवास व ईश्वरकृष्ण एक नहीं हो सकते, क्योंकि ईश्वरकृष्ण के गुरु का नाम देवल था न कि वार्षगण्य। दूसरे अन्यत्र दार्शनिक ग्रन्थों में जो विन्ध्य-वास के मंतों का उल्लेख है। उनमें से एक भी ईश्वरकृष्ण की सांख्य-सप्तति में नहीं मिलता।

किन्तु यहाँ पर श्रीवेल्वलकर का मत भी थोड़ा भ्रमपूर्ण है। माठर की जिन पंक्तियों से उन्होंने देवल को ईश्वरकृष्ण का गुरु ठहराया उनसे न तो वह ईश्वरकृष्ण क अध्यापक ही सिद्ध होता है न परम्परया गुरु। केवल इतना ज्ञात हो सकता है कि ईश्वरकृष्ण के पूर्व का कोई सांख्य का आचार्य देवल भी था। महाभारत में भी देवल का उल्लेख आता है अतः वह ईश्वरकृष्ण का गुरु तो हो ही नहीं सकता। पुनश्च माठर वृत्ति में गिनाए हुये पञ्चशिख व ईश्वर-कृष्ण के बीच केवल ५ ही आचार्य नहीं हुए हैं क्योंकि माठर ने पञ्चशिख के बाद भार्गव को रखा है जब कि युक्तिदीपिकाकार ने पञ्चशिख व भार्गव के मध्य भी जनक व वसिष्ठ को बतलाया है। इसी प्रकार देवल व ईश्वरकृष्ण

के बीच भी किसी अन्य आचार्य को न मानना युक्तिसंगत नहीं। यहाँ 'गुरु' पद से मतलब केवल सम्प्रदाय के अधिष्ठाता से लेना चाहिए। चीनी में ईश्वरकृष्ण के गुरु को पो-पो ली कहा है जो कि कपिल को ही द्योतित करता है।

यहाँ पर यह बता देना भी उचित होगा कि सांख्यसप्तति व हिरण्य-सप्तति एक ही ग्रन्थ हैं, क्योंकि विन्ध्यवास का कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता। अन्य ग्रन्थों में विन्ध्यवास के नाम से जो उद्धरण मिलते हैं वे सभी गद्य में है। तथा ऐसा प्रतिभावान् लेखक किसी अन्य ग्रन्थ की टीका क्यों करेगा। फिर यदि टीका ही की होती तो मत-विरोध न होता, क्योंकि ईश्वरकृष्ण व विन्ध्य-वास की प्रत्यक्ष व अनुमान की परिभापाओं में बड़ा भेद है। अतः चीनी कथा के अनुसार यह मान लेना कि बहुत अधिक सुवर्ण मिलने पर ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति का नाम हीसु वर्णसप्तति पड़ गया, युक्तिसंगत प्रतीत होता है। फिर डॉ० वेल्वलकर के अनुसार विन्ध्यवास का काल तृतीय शतक का पूर्वार्ध है इसके पूर्व नहीं जबकि अनुयोगद्वार सूत्र (ई० पू० प्रथम) में एक कनगसत्तरी नामक जैनेतर ग्रन्थ का उल्लेख है। यह कनगसत्तरी ही कनकसप्तति या स्वर्ण-सप्तति हो सकती है।

श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने विन्ध्यवास को ईश्वरकृष्ण से प्राचीन माना है पर वास्तव में सांख्यसप्तति की टीका माठर वृत्ति ही विन्ध्यवास से प्राचीन है फिर ईश्वरकृष्ण तो बहुत पहले हुआ होगा। श्रीयुत भट्टाचार्य का कथन है कि तिब्बती लेखों के आधार पर ईश्वरकृष्ण व दिङ्नाग या स्वर्णसप्तति सम-कालिक सिद्ध होते हैं। इन लेखों में दिङ्नाग का ईश्वरकृष्ण के साथ शास्त्रार्थ व ईश्वरकृष्ण की प्रतिज्ञा-भंग को दिखलाया है, पर यह लेख उसी प्रकार के हैं जैसे कि (बल्लाल के भोजप्रबन्ध में) राजा भोज के दरबार में कालिदास से लेकर माघ तक सभी कवियों को विठा दिया गया है।

वस्तुतः माठर का काल सभी विन्ध्यवास के पूर्व ई० का प्रथम शतक होगा इस आधार पर ईश्वरकृष्ण का काल ईस्वी सन् के पूर्व मानना ही उचित होगा।

व्याडि

कोशकारों ने व्याडि को विन्ध्यवास कहा है पर वास्तविकता यह है कि जैसे विन्ध्यवास का अपना नाम रुद्रिल था तथा विन्ध्यपर्वत में रहने के कारण वह विन्ध्यवास कहलाया। इसी प्रकार व्याडि भी विन्ध्यपर्वत में रहने के

कारण विन्ध्यवास कहलाने लगा। व्याडि का काल ईसा की चौथी शताब्दी है।

आसुरि

महर्षि कपिल का प्रथम शिष्य आसुरि था तथा उसके शिष्य का नाम पञ्चशिख है। एक आसुरि का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है, जो महायाज्ञिक है। यह आसुरि शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आसुरि से भिन्न था। कुछ लोगों का यह मत है कि यही महायाज्ञिक आसुरि गृहस्थाश्रम के वाद सन्यास में आने पर कपिल का शिष्य बना और उसने प्रव्रज्या ग्रहण की उनका निम्नलिखित श्लोक ही आजकल प्राप्त होता है—

'विभक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

आसुरि का कालनिर्णय अभी तक नहीं हो सका है। फिर भी सम्भवतः ७ वीं शताब्दी ई० पू० का यह माना जा सकता है।

पञ्चशिख

आसुरि का मुख्य शिष्य पञ्चशिख है और वह पराशर गोत्र का था जैसा कि महाभारत के श्लोक से प्रतीत होता है—

पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥ [महा० शान्तिपर्व २२५/२४

महाभारत में पञ्चशिख के नामकरण का कारण यह बतलाया गया है कि—

"पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः।
पञ्चज्ञः पञ्चकृत्पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥
[म० शान्ति प० २२०/१५–१६

इनकी माता का नाम कपिला था। उक्त श्लोक में आये पञ्चस्रोतसि का अर्थ पञ्चपर्वा अविद्या लिया गया है। नारद प्रवर्तित पञ्चरात्र सिद्धान्त में यह पूर्ण निपुण था तथा पञ्चज्ञ अर्थात् प्रपञ्च के तत्त्वभूत पाँच तन्मात्राओं को जानने वाला था और पञ्चमहाभूतों का यथेच्छ निर्माण करने में समर्थ था तथा महाभूतों के पाँचों गुण इसके शरीर से विद्यमान थे। इच्छानुसार किसी भी गुण का प्रावल्य किया जा सकता था। इनके अनेक सन्दर्भ व्यासभाष्य तथा युक्तिदीपिका में यत्र-तत्र उद्धृत हैं। इसका काल ई० पू० ६ठी शताब्दी माना जाता है। इसके प्रमुख शिष्य का नाम जनकध्वज था।

षष्टितन्त्र और सांख्यसूत्र एक हैं

सांख्यसप्तति की माठरवृत्ति में षष्टितन्त्र के नाम से एक वाक्य उद्धृत है—'अपि चोक्तं षष्टितन्त्रे—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते।' [कारिका १७] इसी का अनुसरण गौडपाद ने भी किया है। किन्तु इसी अर्थं को प्रतिपादन करने वाला, प्रायः इन्हीं पदों के साथ एक सूत्र षडध्यायी में है—तत्सन्निधानने दधिष्ठातृत्वं मणिवत।' (सां० सू १/९६)।

सूत्र की रचना और अर्थ के आधार पर यह प्रतीत होता है कि माठर के उक्त उद्धरण का आधार यह सूत्र ही हो। यह बात उस समय अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है जब हम सांख्यसूत्रों की अनिरुद्धिकृत व्याख्या में इस सूत्र की अवतरणिका को देखते हैं। अनिरुद्ध लिखता है—'चेतनाधिष्ठानं विना नाचेतनं प्रवत्तते इत्याह–" यहाँ पर माठर के पुरुष व प्रधान की जगह पर अनिरुद्ध ने चेतन व अचेतन शब्दों का प्रयोग किया है। यह भेद, भेद नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि अनिरुद्ध व माठर दोनों का ही आधार षडध्यायी ही है जिसे माठर ने षष्टितन्त्र के नाम से लिखा है।

सांख्यप्रवचन भाष्यकार विज्ञानभिक्षु का काल

आधुनिक विद्वानों ने इनका समय १५५० ई० माना है तथा डॉ० कीथ के अनुसार इनका समय १६५० ई० है। श्री P. K. Gode ने नई खोज के अनुसार भावागणेश, जो कि विज्ञानभिक्षु का शिष्य था, का काल १५८३ माना है, इसके अनुसार भी विज्ञानभिक्षु १५५० के लगभग ही ठहरता है। किन्तु सदानन्द यति के अद्वैत ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ में विज्ञानभिक्षु नाम मिलता है। सदानन्द वल्लभाचार्य (१५००) के पहले हो चुके हैं अतः १५ वीं शती के पूर्व भाग में ही विज्ञानभिक्षु को माना जा सकता है। पर सदानन्द का लेख स्पष्ट रूप से यह प्रकट करता है कि उस समय एक विज्ञानभिक्षु इतना अधिक प्रसिद्ध हो चुका था कि उसके ग्रन्थ पठन-पाठन में आने लगे थे। इसके लिए १०० वर्ष का समय तो चाहिये ही। अतः १३५० के लगभग उसका समय माना जा सकता है। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद जी ने इनका समय ११वीं शती बतलाया है पर इसके लिये कोई जोरदार प्रमाण नहीं है। अतः इतना ही कहा

जा सकता है कि विज्ञानभिक्षु चतुर्दश शतक के मध्यभाग के पश्चात् का नहीं हो सकता।

अनिरुद्ध वृत्ति और उसका समय

कारिका ३० की व्याख्या करते समय अनिरुद्ध ने माना है कि यहाँ प युगपत् का अर्थ केवल अक्रमंशः है जो 'उत्पलपत्रशताव्यतिभेद' की तरह क्रमः मालूम होने का अर्थ देता है न कि एक साथ होने का। वाचस्पतिमिश्र ने इसं भिन्न अर्थ दिया है वहाँ मन का अणुत्व व अनणुत्व भी दिखलाया है। अनिरुद्ध टीका में नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि अनिरुद्ध वाचस्पति से का है। विज्ञानभिक्षु ने यद्यपि अनिरुद्ध का उल्लेख नहीं किया पर उसकी खण्ड प्रक्रिया से स्पष्ट पता चलता है कि वह अनिरुद्ध का खण्डन ही कर रहा है सांख्य षड्ध्यायी की अनिरुद्ध वृत्ति में जो उद्धरण हैं वे १२वीं शती के लिखित ग्रन्थों के ही हैं। फिर आत्मा की परिच्छिन्नता में अनिरुद्ध जैनमत उल्लेख करता है जब कि विज्ञानभिक्षु रामानुज का भी। इस सबसे स्पष्ट है अनिरुद्ध लगभग ११वीं शती में रहा है।

महादेव वेदान्ती और उसका काल

सांख्य षडध्यायी सूत्रों का अत्यन्तम का व्याख्याकार महादेव वेदान्ती है। इसने अपनी व्याख्या अनिरुद्ध वृत्ति के आधार पर ही लिखी है और इस लिये उनका नाम वृत्तिकार रक्खा है। लिखा भी है='दृष्ट्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध सांख्यीयसिद्धान्तम्।" फिर इसने कहीं भी विज्ञानभिक्षु का नाम भी नहीं लि न उसके किसी मत को ही उद्धृत किया है। बल्कि कहीं पर विज्ञानभिक्षु महादेव का खण्डन करता हुआ प्रतीत होता है। अतः अनिरुद्ध व विज्ञान के मध्य का होने के नाते इसे १३वीं शती मान लेने में कोई आपत्ति प्रतीत होती।

तत्त्वसमास सूत्रों का व्याख्या भावा गणेश

यह विज्ञानभिक्षु का शिष्य था। इसका काल १५८२ के लगभग निश्चि ही हो चुका है। इसकी व्याख्या 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' का आधार क्रमदीपि रही है जिसे कि यह पञ्चशिखकृत मानता है। यद्यपि ईश्वरकृष्ण के पश्च

लिखे जाने के कारण पञ्चशिख को क्रमदीपिकाकार नहीं माना जा सकता। यहाँ एक बात का अनुमान होता है कि क्रमदीपिका तथा तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में बहुत कुछ समानता होते हुए भी क्रमदीपिका आधार न होकर दोनों वृत्तिकारों ने ही किसी तीसरे को आधार माना हो और वह तीसरा पुरुष आचार्य पञ्चशिख हो जाता है, जिसका उल्लेख भावा गणेश ने किया है।

वाचस्पति मिश्र और सांख्यतत्त्वकौमुदी

'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में वाचस्पति ने इसकी समाप्ति का काल ८९८ विक्रमी दिया है। तथा—सर्वं चैतदस्माभिन्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्।' [सां० त० कौ० कारिका ५] इस वाक्य से स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ के पश्चात् ही सांख्यतत्त्वकौमुदी लिखी गई। अतः तत्त्वकौमुदी के निर्माण का समय ई० सन् ८४३ पड़ता है तथा वाचस्पति के उक्त श्लोक में वत्सर का अर्थ विक्रमीय संवत्सर है शक संवत् नहीं। डाक्टर गंगानाथ झा का भी यही मत है। निश्चय रूप से ये न्यायभूषण के रचयिता भासर्वज्ञ के बाद ही अपनी सत्ता को सिद्ध कर सकते हैं तथा भासर्वज्ञ का काल नवम शतक ई० ही माना गया है।

जयमङ्गला

यह भी सांख्यकारिका की एक टीका है। इसके रचयिता शङ्कराचार्य हैं, जो कि बौद्ध थे। सांख्यकारिका की १५वीं कारिका में 'अन्यै व्याचक्षते' यह लिखकर जिस मत का उल्लेख किया गया है वे पूर्णतया जयमङ्गला में ही मिलते हैं और वैसा ही तत्त्वकौमुदीकार ने उद्धरण भी अपनी टीका में दिया है। वात्स्यायन कामसूत्र की जयमङ्गला के बनाने वाले और कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या करने वाले ने भी अपनी टीका का नाम जयमङ्गला रक्खा है तथापि तीनों के व्याख्याकार भिन्न हैं। कामसूत्र की टीका के रचयिता का नाम जयमङ्गला है तथा यशोधर भी इसी का उपनाम है। कामन्दकीय-नीतिसार के टीकाकार का नाम शङ्कर है, शङ्कराचार्य नहीं। इस टीकाकार का समय विक्रम की ७वीं शताब्दी निश्चित किया गया है।

युक्तिदीपिका

इसके रचयिता का नाम राजा है। सम्भवतः ये राजा भोज नहीं है। इनके

मत का उल्लेख जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में पृ० १०९ पर किया है। इस दीपिका टीका का दूसरा नाम 'राजवार्त्तिक' भी है, क्योंकि वार्त्तिक का निम्नलिखित लक्षण इसमें घटित होता है—

उक्तनुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

यह व्याख्या जयमङ्गला से भी प्राचीन नहीं तथा इसका समय विक्रम की ५वीं शताब्दी है।

आचार्य गौडपाद

सांख्यसप्तति की एक टीका गौड़पाद भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह भाष्य माठर वृत्ति का ही अनुकृत रूप है। कुछ अंशों को छोड़ भले ही दिया हो पर नवीन कुछ भी नहीं। एक गौडपाद शङ्कराचार्य की गुरु-परम्परा में भी हो चुके हैं। पर यह भाष्यकार गौड़पाद उनसे भिन्न हैं। गौडपाद भाष्य युक्तिदीपिका के बाद व जयमङ्गला से पूर्व की रचना है।

माठर वृत्ति

इसका उल्लेख 'माठर भाष्य' के नाम से भी मिलता है। यह सांख्यसप्तति की टीकाओं में सर्वाधिक प्राचीन है, क्योंकि पिछले विवेचन में स्पष्ट हो चुका है कि युक्तिदीपिका सबसे प्राचीन है तथा युक्तिदीपिका में अनेक स्थानों पर ऐसे मतों को प्रतिपादित या खण्डित किया गया है, जो माठर वृत्ति में उपलब्ध हैं। दूसरे माठर वृत्ति में एक प्रकार से अर्थ दिया गया है, कोई अर्थ सम्बन्धी मतभेद नहीं जबकि अन्य टीकाओं में बहुत अर्थ सम्बन्धी मतभेद हैं और जिनका मुख्य आधार माठर का मत ही है लगभग ५४६ ई० में भारत से एक परमार्थ नाम का व्यक्ति कुछ भारतीय ग्रन्थ लेकर चीन गया और वहाँ पर वू० टी० नामक राजा की प्रेरणा से उनका चीनी भाषा में अनुवाद किया। इन अनूदित ग्रन्थों मे ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका व एक सांख्यसप्तति यानी उसी सांख्यकारिका की टीका थी। अब यह भी निश्चित हो चुका है कि वह टीका माठर वृत्ति ही थी। जैन सम्प्रदाय के 'योगद्वार सूत्र' नामक ग्रन्थ में माठर का नाम आया है तथा

उक्त ग्रन्थ ईसा के प्रथम शतक का है तब माठर का काल ई० सन् के आरम्भ में कहीं रहा है।

चन्द्रिका

इस टीका की रचना १७वीं शताब्दी में नारायण तीर्थ ने की है। टीका संक्षिप्त है।

सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि ५४६ ई० के लगभग जिन ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ है उनमें से एक ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका भी थी। परमार्थ का कहना हैं कि वसुबन्धु ८० वर्ष का होकर मरा तथा वसुबन्धु के गुरु बुद्धिमित्र को विन्ध्यवास नामक सांख्य-दार्शनिक ने हराया था। इससे यह अर्थ निकलता है कि परमार्थ के पूर्व वसुबन्धु लगभग ४५० में मर चुका था। यह विन्ध्यवास वार्षगण्य का शिष्य था। यह भी ज्ञात है कि वार्षगण्य के एक शिष्य ने हिरण्यसप्तति नामक एक सांख्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखा। यदि इस हिरण्यसप्तति को सांख्यसप्तति से अभिन्न मानें तो विन्ध्यवास व ईश्वरकृष्ण एक ही हो जाते हैं और उनका समय लगभग ४५० ई० पू० सिद्ध होता है।

ईश्वरकृष्ण का काल-निर्णय

परमार्थ नाम के किसी चीन देश के पण्डित ने सांख्यकारिका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। यह कार्य ईस्वी संवत् की छठी शताब्दी में हुआ था। अतः ईश्वरकृष्ण का छठी शताब्दी के पूर्व होना निश्चित है। वार्षगण्य के शिष्य विन्ध्यवास ने हिरण्यसप्तति नाम के ग्रन्थ की रचना की थी। कुछ विद्वान् इस हिरण्यसप्तति को ही सांख्यकारिका तथा विन्ध्यवास को ही ईश्वरकृष्ण मानते हैं। वसुबन्धु ने हिरण्यसप्तति का खण्डन अपनी परमार्थसप्तति में किया था। वसुबन्धु का आविर्भाव ईस्वी संवत् के चतुर्थ शतक में हुआ था। अतः कुछ विद्वानों के मतानुसार ईश्वरकृष्ण का काल चतुर्थ शतक के पूर्व तृतीय शतक है।

अन्य ऐतिहासिक इस मत को नहीं मानते। उनके अनुसार हिरण्यसप्तति तो सांख्यकारिका है परन्तु विन्ध्यवास ईश्वरकृष्ण नहीं। उनका कथन है कि विन्ध्यवास का असली नाम रुद्रिल था। विन्ध्य के जंगलों में रहने के कारण

उनका नाम विन्ध्यवास पड़ गया था, वे अपने मत का समर्थन करने के लिये तत्त्वसंग्रह से—

यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद्दधीति च ।
वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥

यह पद्य उपस्थित करते है । इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित और गुखरत्न ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास का अलग-अलग उल्लेख किया है । इन कारणों से विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण एक ही पुरुष नहीं माने जा सकते । यह तो हुई ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास की अभिन्नता की वात । ईश्वरकृष्ण के काल के विषय में इन लोगों का कथन है कि जैनों के अनुयोगद्वार सूत्र नाम के ग्रन्थ में 'कणगसत्तरी' का उल्लेख मिलता है । यह 'कणगसत्तरी' हिरण्यसप्तति या सांख्यकारिका है 'अनुयोगद्वार सूत्र' का निर्माण काल ईस्वी सम्वत् के प्रथम शतक से नीचे नहीं लाया जा सकता । सम्भवतः उनका काल ई० पू० प्रथम शतक है ।

जैगीषव्य

कूर्म पुराण में यह आचार्य पंचशिख के सहाध्यायी कहे गये हैं । इनके अनेक उद्धरण योगशास्त्र में मिलते हैं । वाचस्पति महोदय ने न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका में 'धारणशास्त्र' 'जैगीषव्यादिप्रोक्तम्' लिखकर धारणशास्त्र के निर्माण का श्रेय इनको दिया है । यह सम्भवत: अष्टांग योग सम्बन्धी ग्रन्थ रहा होगा । इससे अधिक इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है ।

वार्षगण्य

इनका नाम महाभारत में सांख्याचार्यों की सूची में उल्लिखित है । योग भाष्य में इनके दो उद्धरण दिये गये हैं । माठरवृत्ति और गौडपादभाष्य में भी इनके वचन उद्धृत हैं । न्यायवार्त्तिक के 'श्रोतादिवृत्ति' इस वाक्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने अपनी तात्पर्य टीका में लिखा है—वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह' इससे प्रतीत होता है कि ये किसी न किसी सांख्य सम्बन्धी ग्रन्थ के लेखक हैं । अपने जैन-साहित्य और इतिहास ग्रन्थ में पृष्ठ ११६ पर श्री नाथूराम प्रेमी लिखते हैं—'वार्षगण्य' सांख्यकारिका के कर्त्ता ईश्वरकृष्ण का दूसरा नाम है । उन्होंने अपने इस मन्तव्य को प्रमाणित करने के लिए कोई

प्रमाण उद्धृत नहीं किया है। इससे अधिक इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

वोडु, पुलस्त्य, हारीत तथा याज्ञवल्क्य आदि सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हुए हैं।

सांख्य-सिद्धान्त की व्यापकता

सांख्य-सिद्धान्तों का अभाव वेद से लेकर आयुर्वेद तक के साहित्य में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है, 'देवानां पूर्व्योयुगेऽसतः सदंजायत' (ऋ० १०–७२–२) अर्थात् पूर्व विद्वान् असत् से सत् की उत्पत्ति मानते थे यह सिद्धान्त अब नहीं माना जाता। इसी प्रकार सृष्टि से पूर्ववर्तिनी अवस्था का निरूपण करते हुए कहा गया है, 'अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्', (ऋ० १२९-३) अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व यह सब व्यक्त सत्) में लीन था। इसलिये 'अप्रकेतम्' अज्ञेय अथवा अव्यक्त था। इस प्रकार सांख्यसम्मत सत्कार्यवाद का मूल वेदों में उपस्थित है। अनन्तर उपनिषदों में भी इस शास्त्र के सिद्धान्त बीज रूप से बिखरे उपलब्ध होते हैं। वृहदारण्यक में 'असङ्गोह्ययं पुरुषः' (४-३-१५) कहकर पुरुष के अकर्तृत्व अभोक्तृत्व का सिद्धान्त छान्दोग्य (६-२१-२) में सत्कार्यवाद तथा (६–१–४) में परिणामवाद का सिद्धान्त उपलब्ध होता है। कठ में सांख्य-सम्मत भिन्न संख्यावाची शब्द महत् अव्यक्त बुद्धि आदि उसी अर्थ में प्रयुक्त हुए उपलब्ध होते हैं। कुछ विचारकों का तो यह भी मत है कि इसी उपनिषद् के तमेकानमि त्रिवृत्तम् (१–१४) मन्त्र में सांख्यीय तत्वों की गणना भी की है। इधर की उपनिषदों में तो सत्व, रजस्, तमस्. पञ्चन्मात्राएँ, स्थूल-भूत आदि का सांख्यीय दृष्टि से विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। गीता, महाभारत तथा पुराणों में भी सांख्य-प्रक्रिया का उल्लेख है; किन्तु वे सब प्रक्रियायें परस्पर मेल नहीं खाती जैसा कि पहिले बताया जा चुका है। मन्वादि स्मृतियों ने सृष्टि-प्रक्रिया सांख्य की ही स्वीकार की है। थोड़े परिवर्तन के साथ आयुर्वेद ने भी अपने विषय के अनुसार थोड़ा परिवर्तन करके इसी को अपना लिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि वेद से लेकर आयुर्वेद पर्यन्त वाङ्मय में सांख्य-सिद्धान्त बिखरे पड़े हैं।

इन्हीं सांख्य-सिद्धान्तों का उपनिषदों में तथा महाभारत में तथा १८

पुराणों में स्थान-स्थान पर सांख्य का (ज्ञान-शास्त्र) का उल्लेख किया है। यथा—

'यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥'
'साङ्ख्य-योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः ॥' (इत्यादि)

इस सांख्य-शास्त्र के दो भेद हैं जैसा कि 'षट्दर्शन-समुच्चय' के कर्ता हरिभद्र ने कहा कि—

'सांख्या निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वरदेवताः ॥ इति

उपनिषदों में सांख्य का जो रूप उपलब्ध होता है, वह तो सेश्वर ही प्रतीत होता है। उपनिषदों में प्रकृति और पुरुष के ऊपर ब्रह्म की सत्ता मानी गई है। पुरुषों के ब्रह्म का अंशमूल स्वीकार किया गया है। महाभारत, भागवत, भगवद्गीता और मनुस्मृति में सेश्वर सांख्य का ही प्रतिपादन किया गया है। यह बात उन ग्रन्थों के आलोचन से स्पष्ट होती है। बुद्ध ने भी अरदाचार्य से सेश्वर सांख्य का ही अध्ययन किया था। सांख्यकारिका में प्रतिपादित ईश्वरकृष्ण का सांख्य निरीश्वर है इसमें सन्देह नहीं। सांख्य-प्रवचन भाष्य के कर्ता विज्ञान-भिक्षु का सांख्य सेश्वर हैं। वे ईश्वरीय सत्ता मानते हैं।

सांख्य को निरीश्वर मानने वाले आचार्यों द्वारा ईश्वर की सत्ता का निषेध करने के लिये दिये हुये तर्कों का सारांश इस प्रकार है।

(१) नित्य परन्तु अपरिणामी ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता। यदि वह कारण है तो किस प्रकार का कारण है—उपादान कारण या निमित्त कारण ? ईश्वर जगत् का उपादान कारण हो नहीं सकता, क्योंकि वह अपरिणामी है। कार्य तो उपादान कारण का रूपान्तर मात्र होता है।

(२) यदि ईश्वर को निमित्त का कारण मानकर जगत् का कर्त्ता माना जाय तो वह भी असङ्गत होगा, क्योंकि वह तो निरीह है। जगत् को उत्पन्न करने में उसका कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता। कोई भी चेतन व्यक्ति किसी कार्य में निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होता। उन्मत्तों की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन होती है, परन्तु आपका ईश्वर तो उन्मत्त नहीं है।

(३) यदि यह कहा जाय कि ईश्वर का कोई स्वार्थ न होने पर भी पुरुषों

के हित के लिये वह जगत की रचना में प्रवृत्त होता है, तो यह भी ठीक न होगा। जगत् की उत्पत्ति के पूर्व शरीर न होने से पुरुषों को किसी प्रकार का दुःख ही नहीं है। अतः पुरुषों के हित के लिये जगत् की रचना में प्रवृत्ति की बात ही नहीं उठती। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर पुरुषों के हित के लिये जगत् की रचना करता है तो वह केवल सुखमय होना चाहियें, संसार तो दुःखपूर्ण है।

इन सब कारणों से यह कहना पड़ता है कि ईश्वर कोई पदार्थ नहीं है। प्रकृति ही जगत् का कारण है। वह जड़ होने पर भी पुरुष के हित के लिये स्वयं प्रवृत्त होती है, जिस प्रकार गाय की खायी हुई घास दूध में परिणत होकर बछड़े के पोषण के लिये स्वयं प्रवृत्त होती है।

ईश्वर की सत्ता को मानने वाले साँख्याचार्य प्रकृति और पुरुष के संयोग के लिये ईश्वर की आवश्यकता मानते हैं। उनका कहना है कि पुरुष निरीह है और प्रकृति जड़ है। उनका मिलन स्वयं हो नहीं सकता। अतः ईश्वर को मानना पड़ता है। वह साक्षिमात्र है। उसके सन्निधानमात्र से प्रकृति पुरुष से मिलकर जगत् की रचना में प्रवृत्त होती है। इसका उदाहरण चुम्बक है। उसके समीप आते ही लोहे में गति आ जाती है।

सांख्य की ईश्वरवादिता

साँख्य का परिगणन आस्तिक दर्शनों में होना चाहिये अथवा नास्तिक दर्शनों में, यह भी एक विचारणीय विषय हो गया है, क्योंकि साँख्य की गणना ईश्वर को न मानने पर भी आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में होती है, इधर ईश्वर को न मानना ही नास्तिकता है ऐसा विचार सर्वसाधारण में प्रचलित है। जैसा कि—मुसलमानों में रसूल को न मानना कुफ्र में दाखिल है, अल्लाह को न मानना नहीं। इसीलिये विविध उपायों द्वारा साँख्य को आस्तिकता की मुद्रा से मुद्रित करने का विफल प्रयास किया गया है।

पुरुष की सन्निधि मात्र से भले ही प्रकृति में क्षोभ आदि उत्पन्न हो जाय किन्तु इस प्रकार उसमें (पुरुष में) जो कि सांख्य सिद्धान्तानुसार ईश्वर नहीं है, कर्तृत्व (कर्ता बनना) नहीं आ सकता। जो कारक ज्ञानपूर्वक साधनों के द्वारा किसी कार्य को सम्पादन करता है, वही उसका कर्त्ता होता है। कच्चो

सड़क लगातार मनुष्यों के चलने से कुट पिटकर स्वयं ठीक हो जाती है। इतने से उन मनुष्यों को सड़क कूटने वाला नहीं कहा जा सकता, यही दशा यहाँ भी है। साँख्य-सूत्रों में तो साक्षात् सूत्रों द्वारा ही ईश्वर का निराकरण किया गया है और तो और साँख्य-सूत्रों को ईश्वरवादिता का चोला पहनाने वाले विज्ञान-भिक्षु को भी अन्त में यही लिखना पड़ा किमर्थं पुनः कुमताम्बु पगमवादः सांख्ये कृतः ? उच्यते यदि कश्चित् कुमीमांसकः—नित्यं ब्रह्म नाभ्युपगच्छति तदा तस्येश्वरमनभ्युपगच्छतोऽपि कपिलोक्त विवेकख्यातेरेव मोक्षो भवतीति प्रतिपादयितुम्। (वेद० २– –२ विज्ञानामृतभाष्य)

आशय यह है कि साँख्य ने इस कुमत (ईश्वर प्रतिषेध) का आश्रय क्यों लिया। इसका उत्तर यह है कि—यदि कोई व्यक्ति ईश्वर को न मानता हो तो भी उसका कपिल प्रोक्त प्रकृति पुरुष विवेक से मोक्ष हो सके। इस प्रकार यह तो निश्चित ही है कि दार्शनिक क्षेत्र के साँख्य में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है। हाँ, पौराणिक साँख्य अवश्य ईश्वर को साथ लेकर चलता है। इसका भी आशय यही है कि ईश्वरवादी पुराणकार तथा स्मृतिकारो ने सृष्टि रचना में साँख्यीय प्रक्रिया स्वीकार कर ली है। परिणाम यह निकला कि इस दृष्टि से तो साँख्य नास्तिक ही हैं क्योंकि वह निरीश्वरवादी है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि दार्शनिक क्षेत्र में आस्तिकता तथा नास्तिकता की कसौटी है 'नास्तिको वेदनिन्दकः' अर्थात् वेद का प्रामाण्य स्वीकार करना और न करना अन्य कुछ नहीं। सांख्य ने भी अन्य-दर्शनों के समान वेद का प्रामाण्य निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् (सा० द० ४५–१) यह कहकर स्वीकार किया है—वैसे तो यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो वैशेषिक तथा न्याय की भी प्रामाणिकता वेद प्रामाण्य स्वीकार पर ही निर्भर है न कि ईश्वर स्वीकार पर भी।

प्रकृति

प्रकृति से आशय है जगत् का कारण। इसका स्वरूप है—सत्वरजतमसं की साम्यावस्था। साम्यावस्था से आशय है समानुपातिक स्थिति। जैसे शरीर के स्वस्थ रहने के लिये वात, पित्त और श्लेष्मा को समानुपातिक स्थिति अपेक्षित होती है उसी प्रकार प्रकृति को स्वरूप में रहने के लिये गुणों (सत्व,

रजस् तमस्) की समानुपातिक स्थिति अपेक्षित है। अतएव कहा गया है—'साम्यावस्थापन्ना गुणा एव प्रकृतिः' अर्थात् साम्यावस्था को प्राप्त गुण ही प्रकृति है। इस प्रकृति की सत्ता अनुमान से ही प्रमाणित होती है। अतः इसका दूसरा नाम ही अनुमान हो गया है।

इन उपर्युक्त तत्वों पर विचार करने से प्रथम प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ये सत्व, रजस् तथा तमस् हैं क्या? दूसरा इनकी साम्यावस्था से क्या अभिप्राय है? मूल वाक्य है—'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इसका आशय यह है कि मूल कारण सत्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था अर्थात् समानुपातिक स्थिति है। सत्व का अर्थ है स्थिति शक्ति (Power of Existence) रजस् का अर्थ है संयोजक शक्ति (Power of Attraction) तमस् का अर्थ हैं वियोजक शक्ति (Power of Separation) जब ये शक्तियाँ समानुपातिक रूप में न रह कर विषम अनुपात में रहती हैं तब विकृति अर्थात् कार्यावस्था आती है। इस समय संयोजक शक्ति की प्रबलता से जन्म, वियोजक शक्ति की प्रबलता से विनाश तथा स्थिति शक्ति की प्रबलता से वस्तु की स्थिति होती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रथम उत्पन्न होती है फिर कुछ काल तक रहती है अनन्तर नष्ट हो जाती है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि मूल कारण शक्ति रूप है और वह शक्ति ही द्रव्य के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अर्थात् (Power can be changed into matter and mattr can be changed into Power) यह वैज्ञानिक तथ्य इस प्रकार स्पष्ट होता है।

अतः सांख्य के दृष्टिकोण से गुण द्रव्य आदि पदार्थ उसी एक मूल कारण के भिन्न रूप हैं अन्य कुछ नहीं। संयोग-वियोग आदि उसके स्वभाव हैं इसके नियमन के लिये किसी अन्य नियन्ता की आवश्यकता नहीं। गुणों के विषय में बताया गया है कि वे प्रकाश, क्रिया तथा स्थितिशील हैं। वर्तमान विज्ञान समस्त (Electrons) की भी यही दशा है।

शरीर की सात धातुएँ

इस पाँचभौतिक शरीर में कला, आशय, धातु, उपधातु व त्वचा में ६ चीजें ७–७ होती हैं जैसा कि लिखा भी है—

कला: सप्ताशया: सप्तधातव: सप्त: तन्मला: ।
सप्तोपधातव: सप्तत्वच: सप्त प्रकीर्तिता: ।।

कला सप्त यथा—

मांसासृङ् मेदसां तिस्रो यकृत्प्लीह्नोश्चतुर्थिका ।
पञ्चमी च तथाऽऽन्त्राणां षष्ठी चाग्निधरा मता ।।
रेतोधरा सप्तमी स्यादिति सप्त कला: स्मृता: ।

आशया सप्त यथा—

श्लेष्माशय: स्यादुरसि तस्मादामाशयस्त्वध: ।
ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्वामभागे व्यवस्थित: ।
तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदध: पवनाशय: ।।
मलाशयस्त्वधस्तस्य वस्तिर्मूत्राशय: स्मृत: ।
जीवरक्ताशयमुरो ज्ञेया: सप्ताशयास्त्वमी ।।

सप्तधातवो यथा—

'रसासृङ्‌ मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव:' इति ।

धातुमला: सप्त यथा—

'कफ: पित्तं मलश्चैव प्रस्वेदो नख रोम च ।
स्नेहोऽपि पिडि (टि) का चैव धातूनां क्रमयो मला: ।।"

सप्त उपधातवो यथा—

'स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति ।
शुद्धमांसभव स्नेहो वसा संकीर्त्यते च सा ।।
स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम् ।"

सप्त त्वचो यथा—

"ज्ञेयोऽवभासिनी पूर्वा सिध्यस्थानां च सा मता ।
द्वितीया लोहिताज्ञेया तिलकालकजन्मभू: ।।
श्वेना तृतीया संख्याता स्थानं चर्म दलस्य सा ।
ताम्रा चतुर्थी विज्ञेया किलासश्वित्र भूमिका ।।

पञ्चमी वेदिनी ख्याता सर्वकुष्ठोदभवैस्तत: ।

विख्याता लोहिता षष्ठी ग्रन्थि गण्डापचीस्थिति ।।

स्थूला त्वक् सप्तमी ख्याता विद्रध्यादे: स्थितिश्चसा ।।"

श्वास की गतियाँ—

षट् शतानि दिवारात्रो सहस्राण्येकांविशति: ।

स्वाभाविकी गति: प्रोक्ता श्वासप्रश्वासयोर्नृणाम् ।।

अर्थात् एक मनुष्य दिन और रात में २१६०० बार श्वास लेता है, और निकालता है ।

गीता एवं सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद

नासतो विद्यते भावो नाभावो॰ विद्यते सत: ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि: ।। (अ० २ श्लोक १६)

यह पद दर्शनों का सर्वस्व है । अपनी-अपनी प्रक्रिया के भेद से सांख्य और वेदान्त दोनों ही इसे आधार बनाते हैं । इसका अर्थ है कि 'जो असत् वस्तु है, उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती और जो सत् वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता । तत्त्वद्रष्टा लोग इन बातों का अन्त तक विचार करके सिद्धान्त पर पहुँच चुके हैं ।' तात्पर्य यह हुआ कि जिसकी सत्ता है, उसकी भूत-वर्तमान, भविष्य तीनों कालों में ही सत्ता रहेगी और किसी एक काल में भी जिसकी सत्ता न रही, उसकी सत्ता किसी काल में भी न समझो । इसमें त्रैकालिक सत्य ही वास्तविक सत्य पदार्थ सिद्ध हुआ कभी-कभी भासित होने वाले पदार्थ वास्तविक सत्ता नहीं रखते ।

सांख्य-दर्शन में इसी आधार पर सत्कार्यवाद माना जाता है । उनका कहना है कि नया कार्य उत्पन्न नहीं होता, वह पहिले से हैं—तिलों में तेल पहिले से हैं, उसे ही यन्त्र द्वारा पेरकर बाहर किया जाता है । दही में मक्खन व्याप्त है—उसे ही बिलोकर प्रकट किया जाता है । जब आप किसी शिल्पी से एक राम या कृष्ण की या शेर, हिरन आदि की प्रतिमा बनाने को कहते हैं तो वह एक बड़ा पत्थर लेता है और अपने औजारों से पत्थर के अंशों का टाँककर अपनी

मनोवाञ्छित प्रतिमा को उसी पत्थर में से प्रकट कर देता है, बाहर से कुछ

नहीं लाता। इससे यही सिद्ध होता है कि घृत, तैल, प्रतिमा आदि पहिले से ही उन पदार्थों में विद्यमान थीं।

उन पर अन्य अवयवों का एक आवरण पड़ा हुआ था, उस आवरण को हटाकर उन्हें प्रकट कर दिया गया। नई वस्तु कोई नहीं बनाई गई। इन्हीं दृष्टान्तों से सर्वत्र सत्कार्यवाद समझ लेना चाहिए। मृतिका से घड़ा या सुराही बनाने में भी नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, अपितु मृतिका की ही चूर्ण-पिण्ड, घट शराव आदि अनेक अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था जब तक है वह दूसरी अवस्थाओं को दबाये रहती है। बनाने वाले एक अवस्था को हटाकर दूसरी अवस्था को प्रकट कर देते हैं। इसी प्रकार तन्तु से पट बनाना, स्वर्णपिण्ड से कनककुण्डल आदि का निर्माण करना भी एक अवस्था को दबा कर दूसरी अवस्था प्रकट कर देना मात्र है। असत् वस्तु का उत्पादन कहीं नहीं है। संयोगज पदार्थों के जो दृष्टान्त दिये गये हैं, उनमें भी अंशतः जो तत्व या शक्ति कई जगह बिखरी हुई थी उसको एक जगह एकत्रित कर प्रकट कर दिया जाता है। नई वस्तु नहीं बनाई जाती। रज और शुक्र अंशतः रहने वाले शरीर के अवयवों को एकत्रित कर दिया जाता है। बारूद में भी कोयले और शोरे में अंशतः रहने वाली ध्वंसक शक्ति को एकत्रित कर अभिव्यक्त कर दिया जाता है। मलाई में भी प्रखरता वायु का अंश है और द्रवता दुग्ध का अंश अब भी बना हुआ है। दोनों का सम्मिश्रण मात्र हुआ है—नई वस्तु कोई उत्पन्न नहीं हुई। इसी प्रकार जिसे विनाश कहते हैं, वहाँ भी वस्तु का अभाव नहीं होता, अवस्था परिवर्तन-मात्र हो जाता है।

उदाहरण के लिये—

शीतकाल में सरोवर में जो जल भरा हुआ था वह ग्रीष्मकाल में सूख गया इससे उसका अभाव नहीं समझा जा सकता। किन्तु वह द्रवावस्था से वाष्प की अवस्था में चला गया फिर वर्षा में घनीभूत होकर द्रवावस्था में आ जायेगा। यही अवस्थाओं का चक्र चलता रहता है। सत् का अभाव और असत् की उत्पत्ति नहीं होती।

न्यायदर्शन में जो घट पटादि नये अवयवों से उत्पन्न माने जाते हैं वह प्रारम्भिक दशा में सिखाने की प्रक्रियामात्र है। उनकी उक्ति है कि नाम का

रूप और क्रिया तीनों नये वन जाते हैं इसीलिये नये पदार्थ की उत्पत्ति मान लेनी चाहिये। घट का जैसा रूप अर्थात् आकार घटावस्था में बना वैसा पहले नहीं था। आगे घड़ा फूट जाने पर भी नहीं रहेगा। "घट" यह नाम न पहिले था न उसके नष्ट होने पर ही रहेगा। 'जल भर कर लाना' यह कार्य भी घट से ही होता है, पूर्वसिद्ध मृत्तिका से नहीं। शरीर को ढककर शीत निवारण करना वस्त्र का ही काम है, सूत का नहीं इसलिये घट-पट आदि नई वस्तु नहीं बनी, यही मानना उचित है। 'नास्तो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः' वाला सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ यदि किया जाय तो इतना ही हो सकता है कि भाव और अभाव दो अलग-अलग वस्तुयें हैं। ये एक दूसरे के रूप में परिणत नहीं हो सकतीं। अर्थात् भाव कभी अभाव के रूप में नहीं आ सकता, किन्तु नये-नये भाव तो उत्पन्न होते ही रहते हैं और उनका अभाव या विनाश भी होता ही रहता है।

इसका उत्तर सांख्य-सिद्धान्त में यह दिया जाता है कि एक मनुष्य के लिये 'सेना' शब्द का व्यवहार नहीं होता, किन्तु उनका समुदाय होने पर वह सेना शब्द से पुकारा जाता है। एक मनुष्य उतना स्थान नहीं घेर सकता, किन्तु सेना बहुत बड़ा स्थान घेर लेती है, इससे रूप अर्थात् संन्निवेश का भेद भी सिद्ध है और एक मनुष्य किसी बड़े पत्थर या छप्पर को नहीं उठा सकता, परन्तु समुदाय मिलकर यह कार्य कर लेता है। इस प्रकार नाम, रूप, कर्म तीनों नये होने पर भी सेना या समुदाय मनुष्यों से भिन्न कोई अलग वस्तु है, यह कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति शायद स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार वृक्ष और वन को भी समझा जा सकता है। नैयायिका भी सेना और वन को मनुष्यों या वन से पृथक् नहीं मानते। बस, यही बात घट, पट आदि पदार्थों के सम्बन्ध में भी है। वहाँ भी संन्निवेश रूप अवस्था से नये नाम रूपों का व्यवहार हो जाता है। एक मृत्तिका का कण भी जल का कुछ अंश धारण कर ही लेता था, समुदाय हो जाने पर अधिक जल का आहरण उसके द्वारा हो जाता है। एक तन्तु भी शरीर के कुछ हिस्से को ढाक सकता था, समुदाय हो जाने पर सम्पूर्ण शरीर का ढकना उसके द्वारा सम्भव हो जाता है। इससे मृत्तिका या तन्तु की अपेक्षा घट और वस्त्र का उसी प्रकार भेद सिद्ध नहीं होता, जिस प्रकार मनुष्य और सेना

का या वृक्ष और वन का। इससे सिद्ध है कि गीता के रचयिता को सत्कार्यवाद अभिप्रेत है, असत्कार्यवाद नहीं। प्रदर्शित प्रकार से इस विषय पर और भी ऊहा-पोह किया जा सकता है, किन्तु विस्तार भय से यहीं लेखनी को विराम देना उचित प्रतीत होता है। अन्त में जिन आदरणीय महानुभावों तथा मित्रों की रचनाओं का सहयोग लिया है, मैं उन सब का कृतज्ञ हूँ। इस व्याख्या के लेखन में आयुष्मती प्रिय प्रकाश 'परिहार' ने जो सहयोग दिया है वह चिर-स्मरणीय रहेगा। विद्वानों से तो यही कहना है कि—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
दीने मयि दयावन्तः सन्त संशोधयन्तु तत् ॥ इति ॥

चैत्र शुक्ला रामनवमी स० २०२७ वि० —हरिदत्त शास्त्री

१५—८—७०

❀ ईश्वरकृष्णविरचिता ❀

सांख्यकारिका

'प्रभाऽऽख्यया-हिन्दी-व्याख्यया गौडपादभाष्यान्वय सहिता'

—:o:—

प्रभा—

कपिलाय नमस्तस्मै येनाविद्योदधौ जगति मग्ने ।
कारुण्यात् सांख्यमयी नौरिह विहिता प्रतरणाय ॥

उत्थानिका—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगानजोऽन्यः ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के इस मन्त्र को यत्किञ्चित् परिवर्तित करके सांख्यतत्त्व-कौमुदी में मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस कारिका के मंगलाचरण के पूर्वार्द्ध से प्रकृति का स्वतन्त्र कर्तृत्व सिद्ध किया गया है। तीसरे चरण से जीवात्माओं का बहुत्व तथा उनकी निःसंगता तथा सुख-दुःख का साक्षित्व सिद्ध किया गया है। चौथे चरण से विवेक साक्षात्कार के द्वारा मुक्ति होती है तथा जिसको साक्षात्कार होता है वही मुक्त होता है, अन्य नहीं; इस प्रकार पुरुष बहुतत्व की सिद्धि होती है।

अवतरणिका—सांख्यशास्त्र ही श्रवण, मनन निदिध्यासन का विषय है, इसका समर्थन करते हुये सांख्यशास्त्र निर्दिष्ट विवेक रूपी उपाय की मुख्यता, दोषहीनता तथा अन्य शास्त्रों की अपेक्षा सांख्यशास्त्र की ही उपादेयता सिद्ध करने के लिये प्रथम कारिका का निर्माण किया गया है—

1981

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥१॥

[अन्वय— दुःखत्रयाभिघातात्, तदपिघातके, हेतौ, जिज्ञासा, दृष्टे, सा अपार्था, चेत्, न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात्।]

तीन दुःखों के द्वारा निरन्तर जीवात्मा के पीड़ित रहने से, उन तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति के लिये व्याकुल जीवात्मा उपायों की खोज करता है। इन उपायों को दो श्रेणियों में विभक्त देखते हैं। कुछ उपाय लौकिक और कुछ उपाय अलौकिक हैं। अलौकिक उपाय दो प्रकार के हैं—वैदिक, शास्त्री। इनमें से वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के उपाय दुःखों की निश्चित रूप से निवृत्ति नहीं करते हैं। इन उपायों से जीवनभर के लिये (आत्यन्तिक) दुःख की निवृत्ति नहीं होती। इसलिये परिशेष न्याय से सांख्यशास्त्र (अन्य शास्त्रोक्त नहीं) प्रतिपादित उपाय ही दुःख निवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन माना जाता है। कारिकार्थ इस प्रकार है—

दुःखत्रय के, अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन तीन प्रकार के दुःखों के पुरुष पर निरन्तर प्रहार करते रहने के कारण तदपघातक अर्थात् दुःखत्रय निवृत्ति करने वाले किसी साधन की जिज्ञासा होती है। यदि दुःखत्रय की निवृत्ति दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष उपायों से यदि सिद्ध हो जावे तो सांख्यशास्त्र के अध्ययन के लिये कोई प्रस्तुत न होगा; परन्तु दुःखत्रय की निवृत्ति लौकिक या वैदिक उपायों से यद्यपि हो जाती है; परन्तु कभी-कभी उपायों के करने पर भी नहीं होती है। यदि हो भी जाती है, तो जीवनभर के लिये नहीं होती है 'एकान्त' का अर्थ निश्चय रूप से 'आत्यन्तिक' शब्द का अर्थ सर्वदा के लिये है।

विशेष—(क) सम्पूर्ण सांख्यकारिका में आर्या छन्द का प्रयोग किया गया है।

"आरात् = आत्मतत्वज्ञानस्य समीपे, याति अनया इति आर्या" अथवा आरयति प्रेरयति निवर्तयति दुःखं याति गच्छति च आत्मज्ञानाभिमुखं या इति आर्य्या। इन दो व्युत्पत्तियों के अनुसार आर्या छन्द का ही प्रयोग इन कारिकाओं में सुतरां उपयुक्त है।

(ख) इस कारिका में सर्वप्रथम दुःख शब्द का प्रयोग अमङ्गलकारी होने से ग्रन्थारम्भ में करना अनुचित है तथापि उस दुःख का विनाश और विनाश के उपायों का अनन्तर ही निर्देश किया जा रहा है। अतः दुःखध्वंस का कथन मङ्गलकारी है। नाश के लिये नाश्य का या नाश के प्रतियोगी का प्रयोग भी अपेक्षित है। इसलिए दुःख शब्द का प्रयोग यहाँ अमङ्गलकारी नहीं माना जाता तथा दुःख शब्द केवल इन्द्रिय तथा शरीरवर्ती परिपात का द्योतन करता है; क्योंकि "दु.=दुस्थितानि खानि – इन्द्रियाणि येन तद् दुःखम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह बताया गया कि आत्मा दुःख से अलिप्त है तथा असङ्ग है। सुख-दुःख आदि केवल शरीर और इन्द्रिय में ही रहते हैं। दूसरे की वस्तु को अपनी समझना बड़ी भारी भूल है। इस असङ्गता का द्योतन केवल दुःख शब्द द्वारा हो सकता है, अन्य से नहीं। इसलिए दुःख शब्द के प्रयोग की उपयोगिता है।

(ग) तीनों दुःखों का विवरण निम्नलिखित है—

आध्यात्मिक दुःख—शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार का है। क्योंकि आत्मा शब्द का अर्थ शरीर और मन दोनों होता है। मानस दुःख—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद, (किसी के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता) तथा संशय आदि कारणों से उत्पन्न होता है। आधिदैविक दुःख—यक्ष, राक्षस तथा ग्रहगति से या वायु, वर्षा, धूप, सर्दी, गर्मी आदि से प्राप्त होते हैं। इन दुःखों में शारीरिक दुःख वैद्य या डाक्टरों के पास जाने से मिट सकता है। मानसिक दुःख भी अभिलषित विषयों की प्राप्ति से हटाया जा सकता है। आधिभौतिक दुःख जो शत्रु की चढ़ाई से मिलता है, वह नीतिशास्त्र के अभ्यास से तथा सर्प और पशु आदि का दुःख निर्वाध स्थान में रहने से निवारण किया जा सकता है। आधिदैविक दुःख भी मणि, मन्त्र, औषधि आदि के उपयोग से दूर किये जा सकते हैं। इस प्रकार तीनों प्रकार के दुःख यद्यपि दूर किये जा सकते हैं; किन्तु इनकी निवृत्ति कभी-कभी उपाय करने पर भी नहीं होती तथा यदि हो भी जाती है तो जीवनभर के लिए कभी नहीं होती। इसलिए सांख्यशास्त्र की जिज्ञासा बनी रहती है।

(घ) 'तद्' पद के तीन अर्थ होते हैं—१. प्रसिद्ध परामर्शक, २. प्रकान्त-परामर्शक, ३. बुद्धिस्थ परामर्शक।

तदनुसार यहाँ पर 'तद्' पद से पूर्वोक्त दुःखत्रय अभिघात का ग्रहण करना चाहिए; उसके एकदेशीय दुःख का नहीं। यदि दुःख त्रियाभिघात का ग्रहण कर लिया जाय तो अपसिद्धान्त हो जाता है। अतः यहाँ 'तत्' पद से बुद्धिस्थ दुःख का ही ग्रहण किया जाता है। पूर्वकथित दुःखत्रयाभिघात का नहीं ॥१॥

भाष्यम्

दुःखत्रयेति। अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते। इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम। तद्यथा—

सनकश्च, सनन्दश्च, तृतीयश्च सनातनः।
आसुरिः कपिलश्चैव, वोढुः, पञ्चशिखस्तथा ॥१॥
इत्येते ब्राह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः।'

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यम्, ऐश्वर्यञ्चे'ति। एवं स उत्पन्नः सन्नन्धे तमसि मज्जज्जगदालोक्य, संसारपारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणायेदं पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानमुक्तवान्, यस्य ज्ञानाद् दुःखक्षयो भवति—

'पञ्चविंशततित्त्वज्ञो यत्र-तत्राश्रमे वसेत्।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥'

तददमाहः—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति। तत्र दुःखत्रयम्—१ आध्यात्मिकम्, २. आधिभौतिकम् ३. आधिदैविकञ्चेति। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं, शारीरं मानसं चेति। शारीरं—वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारादि। मानसं प्रियवियोगाऽप्रियसंयोगादि। आधिभौतिकं—चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपदंशमशकयूकामत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्यो, जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेभ्यः सकाशादुपजायते। आधिदैविकं— देवानामिदं दैवं, दिवः प्रभवतीति वा दैवं, तदधिकृत्य यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाऽशनिपातादिकम्।

एवं यथा—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा कार्या। क्व ? तदभिघातके हेतौ तस्य=दुःखत्रयस्य अभिघातको योऽसौ हेतुस्तत्रेति। दृष्टे साऽपार्था चेत्। दृष्टे=हेतौ दुःखत्रयाभिघातके, सा=जिज्ञासा—अपार्था चेद्=यदि। तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि आयुर्वेदशास्त्रक्रियया, प्रियसमागमाऽप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायक्वाथादिभिर्दृष्ट एव आध्यात्मिकोपायः। आधिभौतिकस्य रक्षादिनाऽभिघातो दृष्टः। दृष्टे साऽपार्था चेत त्वं मन्यसे ? नः एकान्तात्यन्तोऽभावात्।

यत एकान्ततः = अवश्यम, अत्यन्ततः = नित्यं, दृष्टेन हेतुना अभिघातो न भवति, तस्मादन्यत्र एकान्तात्यन्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा = विविदिषा कार्येति ॥१॥

———

अवतरणिका — यह मान लिया गया है कि दृष्ट उपायों से दुःखों की निवृत्ति नहीं हो सकती तथापि वैदिक उपायों (ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से) दुःख की निश्चित रूप से तथा हमेशा के लिए निवृत्ति हो सकती है, क्योंकि श्रुति कहती है कि —

'अपाम सोममृता अभूमाऽगन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किन्नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ॥

इसका यह अर्थ है कि ऋषियों ने यह विचार किया कि हम अमर कैसे बनें और उनके लिए उन्होंने सोमरस का पान किया और पान करके वे अमर हो गये । इतना ही नहीं वे अमर होकर ज्योति अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त हुए । वहाँ जाकर दिव्य व्यक्ति या पदार्थों से मिले । ऐसी अवस्था में, निश्चय रूप में अर्थात् शत्रु (तीन प्रकार के दुःख) 'किमकृणवत्' क्या कर सकते हैं यदि 'कृणवत्' के स्थान पर तृणवत् पाठ है तो शत्रुः तृण अर्थात् तिनके के सदृश हैं । 'धूर्ति' बुढापा या हिंसा 'अमृत मर्त्यस्य' अमर मनुष्य का क्या बिगाड़ सकती है ? अतः सांख्यशास्त्र की जिज्ञासा व्यर्थ है क्योंकि वैदिक उपाय अल्प समय में दुःख की निवृत्ति कर देगा । उसकी अपेक्षा विवेक ज्ञान जन्म-जन्मान्तरों के अभ्यास से प्राप्त होता है, जो अत्यन्त कठिन है । अतः सरल उपाय होते हुए सांख्य के कठिन उपाय को कौन करेगा ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

[अन्वय — दृष्टवद् आनुश्रविकः, सः, हि, अविशुद्धि-क्षय अतिशययुक्तः, तद्विपरीतः, श्रेयान्, व्यक्त-अव्यक्त ज्ञ-विज्ञानात् ।]

आनुश्रविक अर्थात् वैदिक उपाय भी । अनुश्रव[1] = वेद ।

---

१ —गुरु परम्परा से जिसका श्रवण हो उसे अनुश्रव कहते हैं । यह वेद की ही एक संज्ञा है । अनुश्रव में जो प्रतिपादित है उसे आनुश्रविक कहते हैं ।

दृष्टवत् - अर्थात् लौकिक उपायों की तरह से ऐकान्तिक तथा आत्यन्ति दु.ख निवृत्त का उपाय नहीं है। प्रत्युत उसमें कुछ और भी दोष है। हि क्योंकि सः =वह वैदिक उपाय अविशुद्धि क्षय और अतिशय नाम के तीन दो से युक्त है। अविशुद्धि = यह वैदिक उपाय विशुद्ध इसलिये नहीं है कि जब सो आदि यज्ञ किये जाते हैं तो उसमें पशुवध और बीज आदि का वध किया जा है। वध करने से पाप उत्पन्न होता है, पाप का फल दु.ख है—इसलिये सो यज्ञ से विशुद्ध सुख की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु दुःखमिश्रित सुख की प्राप्ति हुई जैसा कि पञ्चशिखाचार्य ने लिखा भी है स्वल्पः, सङ्करः, सपरिहारः सप्र वमर्षः" इति। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि हिंसा निषेध करने वा वाक्य (मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि) सामान्य नियम है तथा 'अग्नीषोमीयं पशुमा भेत' यह विशेष वाक्य है। अतः तक्रकौण्डिन्य न्याय से सामान्य निषेध वाक्य विशेष विधि वाक्य से बाधा हो जाती है। अतः हिंसा करने से भी पाप न लग सकता है; क्योंकि सामान्य शास्त्र का नियम विशेष शास्त्र को छोड़क लगेगा। इस प्रकार अग्नीषोमीय यज्ञ में तथा हिंसा विधान करने वाले वा में सामान्य हिंसा निषेधपरक वाक्य की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अतः यज्ञ हिंसा से पापों की उत्पत्ति न होने से अविशुद्धि रूप दोष नहीं आयेगा—इस उत्तर यह है कि बाध्यबाधकभाव विरोध होने पर होता है। विरोधी होने प दुर्बल बलवान् से बाधा देखी जाती है। यहाँ इन दोनों वाक्यों में कोई विरो ही नहीं है। अतः बाध्यबाधकभाव नहीं क्योंकि हिंसा निषेध करने वाला वा केवल यह बताता है कि हिंसामात्र से पाप रूपी अनर्थ की उत्पत्ति होती है यज्ञ में हिंसा-विधान करना यज्ञ की पूर्ति का एक साधन है। वह हिंसा से पा की निवृत्ति का प्रतिपादन नहीं करता। अतः वैदिक उपायों से मिलने वाले सु से दुःख का मिश्रण बना रहा और यही अविशुद्धि है। इसी प्रकार वैदिक उपायों में क्षयातिशय है वैदिक उपाय कर्मजन्य हैं अतः नाशवान् हैं और क्षयी हैं। अतः जब मनुष्य सुख भोगता है तो वह यह सोचता हैं कि यह सुख क्षणिक है फिर कष्ट होगा। इस चिन्ता से उसका मन आक्रान्त रहता है। इसी प्रकार केवल ज्योतिष्टोम यज्ञ को करने वाले को इन्द्र पद अर्थात् स्वर्ग का आधिपत्य

मिलता है। ऐसी अवस्था में दूसरे का उत्कर्ष देखकर अपने अपकर्ष से दुःख होना स्वाभाविक है। इसी का नाम अतिशय है। क्षय और अतिशय यह दोनों सुख और दुःख रूपी फल में रहते हैं। फिर भी लाक्षणिक प्रयोग से यज्ञ रूपी उपाय में बताये गये हैं। रही यह बात कि एक श्रुति ने वैदिक उपायों से अमरता बताई थी, वह अमरता भी अधिक दिन तक रहने वाले सुख का बोध कराती है यह नहीं कि अनन्त काल सुख की प्राप्ति होगी क्योंकि न कर्मणा न प्रजया इत्यादि वाक्यों से विरोध होता है।

विशेष—इस कारिका में आनुश्रविक शब्द है जो सामान्य रूप से सांख्य-शास्त्रोक्त उपायों तथा यज्ञादि उपायों के लिए प्रयुक्त होता है। अतएव सांख्य-शास्त्रोक्त उपाय भी आनुश्रविक शब्द से लिये जा सकते हैं तथापि उस व्यापक-शब्द का संकोच करके यज्ञादि कर्म कलाप ही अर्थ लेना चाहिए। सांख्य-शास्त्रोक्त उपाय नहीं। इसका समाधान करते हैं—तद्विपरीतः इतिः—

अविशुद्धि युक्त अनित्य और सातिशय दुःख—विघातक उपाय से विपरीत (भिन्न) जो विवेक ज्ञानरूपी उपाय है। यह श्रेयान् प्रशस्यतर हैं क्योंकि इसमें नित्यता, निरतिशयता और विशुद्धता है। तथा यह विवेक रूपी उपाय सांख्य शास्त्र द्वारा व्यक्त=पञ्चमहाभूत, अव्यक्त=प्रकृति, ज्ञ=पुरुष—इन तीनों के विज्ञान=विवेकपूर्वक ज्ञान से उत्पन्न होता है। श्रद्धापूर्वक निरन्तर अभ्यास करने से यह विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे तीनों दुःख नष्ट हो जाते हैं ।।२।।

भाष्यम्

यदि दृष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैवम। यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः। अनुश्रूयत इत्यनुश्रवः, तत्र भवः—आनुश्रविकः। स च आगमात् सिद्धः। यथा—

'अपाम सोमममृता अभूमाऽगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ।।

कदाचिदिन्द्रादीनां देवानां कल्पनाऽऽसीत्—कथं वयममृतां अभूमेति। विचार्य, यस्माद्वयमपाम सोमं=पीतवन्तः सोमं, तस्मादमृता अभूम=अमरा भूतवन्त इत्यर्थः। किञ्च—अगन्म ज्योतिः। गतवन्तः=लब्धवन्तः, ज्योतिः= स्वर्गमिति। अविदाम देवान्=दिव्यान् विदितवन्तः। एवं च किं नूनमस्मान्

तृणवदरातिः नूनं निश्चितं, किमरातिः=शत्रुरस्मान् तृणवत् कर्तेति । धूर्तिरमृतमर्त्यस्य । धूर्तिः=जरा, हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्यस्य ?

अन्यच्चवेदे श्रूयते–आत्यन्तिकं फलं पशुवधेन । 'सर्वाल्लोकान् जतति, मृ तरति पाप्मानं तरति, ब्रह्महत्यां तरति, योऽश्वमेधेन यजते' इति । ऐकान्तात्य एवं वेदोक्ते–अपार्थैव जिज्ञासेति । न उच्यते—दृष्टवदानुश्रविक इति । तु तुल्यो दृष्टवत् । योऽसौ आनुश्रविकः-कस्मात् स दृष्टवत्, यस्मात्- अविशुद्धिक्ष तिशययुक्तः अविशुद्धियुक्तः—पशुघातात् । तथा चोक्तम्—

'षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशूभिस्त्रिभिः ॥' इति ॥

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तथापि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इ तथा—

'बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे ।
कालेन समतीतानि, कालो हि दुरतिक्रमः ॥' इति ॥

एवमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः । तथाऽतिशयो=विशेषस्तेन युक्तः । वि गुणदर्शनादितरस्य दुःखं स्यादिति । एवमानुश्रविकोऽपि हेतुर्दृष्टवत् । कस्त श्रेयानिति चेत् । उच्यते । तद्विपरीतः श्रेयान् । ताभ्यां-दृष्टानुश्रविका विपरीतः श्रेयान्=प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशयाऽयुक्तत्वात् । स क मित्याहव्यक्ता—व्यक्तज्ञविज्ञानात् । तत्र व्यक्तं=महदादि, बुद्धिरहङ्का पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि । अव्यक्तं=प्रधानम् ज्ञः=पुरुषः । एवमेतानि 'पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः, कथ्यन्ते । ए द्विज्ञानाच्छ्रेय इति उक्तं च 'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञ' इत्यादि ॥

अवतरणिका—इस प्रकार सांख्यशास्त्र की आवश्यकता सिद्ध करके आ सांख्यशास्त्र में जिन पदार्थों का वर्णन है उसका संक्षेप में परिगणन करते हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३॥

[अन्वय -- मूलप्रकृतिः, अविकृति महदाद्याः, सप्त, प्रकृतिविकृतयः,पोडशकः तु विकारः, पुरुषः, न प्रकृतिः. न विकृतिः, ।]

चार प्रकार के पदार्थ होते हैं - प्रकृति रूप, (१) विकृति रूप, (२) प्रकृति विकृति रूप, (३) प्रकृति विकृति भिन्न रूप—इनमें से विश्व भर का जो कारण है वह प्रकृति है उसका कोई भी कारण नहीं, इसीलिये वह मूल प्रकृति है । महत् आदि ज्ञात पदार्थ प्रकृति रूप है, क्योंकि महान् (बुद्धि) अहंकार कीप्र कृति है और मूलप्रकृति की विकृति है । इसी प्रकार अहंकार पंचतन्मात्राओं की विकृति है, पंचतन्मात्रायें महाभूतों की प्रकृति और अहंकार की विकृति है । इस प्रकार यह सात पदार्थ प्रकृति विकृति उभय स्वरूप हैं । विकृति स्वरूप पंचमहाभूत और ११ इन्द्रियाँ हैं इनमें कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं होती । यद्यपि पृथ्वी से वृक्षादि होते हैं किन्तु यह पृथ्वी से भिन्न तत्व नहीं है; क्योंकि "तत्वान्तरोपादानत्वमप्रकृतित्वम्" यह प्रकृति का लक्षण है । पुरुष अर्थात् जीवात्मा प्रकृति से भिन्न है न वह किसी की प्रकृति है और न उससे कोई उत्पन्न होता है न वह कार्य है और न वह कारण है इस प्रकार इन पच्चीस तत्वों का निरूपण सांख्य-शास्त्र में किया गया है ॥३॥

भाष्यम्

अथ व्यक्ता-ऽव्यक्त-ज्ञानां को विशेष इति ? । उच्यते—मूलप्रकृतिः = प्रधानं, प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात् । मूलं सा प्रकृतिश्च—मूलप्रकृतिः । अविकृतिः = अन्यस्मान्नोत्पद्यते । तेन प्रकृतिः कस्यचिद्विकारो न भवति । महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । महान् = बुद्धिः । बुद्धियाद्याः सप्त बुद्धिः १, अहङ्कारः १, पञ्चतन्मात्राणि ५ । एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः । तद्यथा - प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते, तेन विकृतिः = प्रधानस्य विकार इति । सैवाहङ्कारमुत्पादयति, अतः प्रकृतिः । अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यत इति विकृतिः, स च पञ्चतन्मात्राण्युत्पादयतीति—प्रकृतिः । तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तस्मादाकाशमुत्पद्यत इति प्रकृतिः । तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः । गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः तदेव पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः । रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृति, तदेव तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः तदेवमपि उत्पादयतीति प्रकृतिः । एवं महदाद्याः सप्त प्रकृतिविकृतयश्च । षोडशकस्तु विकारः ।

पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्चमहाभूतानि, एष षडशको गणो विकृतिरेव विकारो—विकृतिः । न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥

— — —

अवतरणिका—किसी भी वस्तु की सिद्धि के लिये लक्षण या प्रमाण की आवश्यकता होती है। लिखा भी है कि 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः ।" अतः उक्त पच्चीस तत्वों की लक्षण और प्रमाण से सिद्धि करनी आवश्यक है। प्रमाण का क्या लक्षण है और प्रमाण कितने हैं—

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

[अन्वय—दृष्टम् अनुमानम्, आप्तवचनं, च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, त्रिविधं, प्रमाणम्, इष्टम्, हि, प्रमेयसिद्धिः, प्रमाणात् (भवति) ।]

यद्यपि सर्वप्रथम प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है किन्तु प्रमाण के सामान्य लक्षण के विना प्रमाण विशेष का लक्षण करना अनुचित है अतः 'प्रमाणमिष्ट' इस वाक्य से प्रमाण सामान्य का लक्षण किया गया है। प्रमाण पक्ष का निर्वचन ही लक्षण है और प्रमाण लक्ष्य है अतः जिससे प्रमा उत्पन्न की जावे वह साधन "प्रमीयते अनेन" इस व्युत्पत्ति से प्रमाकरण कहलाता है। अन्तःकरण और इन्द्रियों की वृत्ति प्रमाण कहलाती है। ये असंग पुरुष को "अहं घटं जानामि" यह जो ज्ञान होता है वह प्रमा कहलाता है। ये प्रमाण कितने हैं? इस शङ्का का समाधान "त्रिविधम्" इस पद से किया गया है। अर्थात् प्रमाणों की संख्या तीन हैं – दृष्ट, अनुमान और आप्तवचन । वस यही प्रमाण माने जाते हैं इसका उत्तर देते हैं कि "सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्" सारे प्रमाणों से यही तीन प्रमाण सिद्ध होते हैं। अर्थात् उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य नामक पाँच प्रमाणों का भी इन तीनों में ही अन्तर्भाव माना जाता है।

(१) उपमान – 'यथा गौस्तथा गवयः, जैसा गवय होता है वैसी गाय होती है। यह उपमान का उदाहरण है।

(२) अर्थापत्ति—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' देवदत्त मोटा है—यह दिन में भोजन नहीं करता । यहाँ पर रात्रि का भोजन करने की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमाण का विषय है।

(३) अभाव—'इह भूतले घटो नास्ति' इस स्थान पर घट का अभाव है—इस उदाहरण में घट के अभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है।

(४) संभव—जैसे खारी नामक परिमाण में द्रोण-आढक आदि छोटे परिमाणों का अस्तित्व सम्भव है यह माना जाता है।

"पलं प्रकुञ्चनं मुष्टिः कुडवस्तच्चतुष्टयम्।
चत्वारः कुडवाः प्रस्थः चतुष्प्रस्थं तमाढकम् ॥
चतुराढकोभवेद् द्रोणः खारी द्रोणचतुष्टयम्।
द्विद्रोणश्च भवेच्छूर्पः कुम्भोऽपि द्रोणविंशतिः।"

(शार्ङ्गधर टीका निर्णय सागर देखो)

कुडवः=पाव, पल - मासा, प्रकुञ्जन=तोला, मुष्टि=छटाँक।

(५) ऐतिह्य—'इह वटे यक्षोऽस्ति' इस वट के पेड़ पर भूत रहता है या महाराणा प्रताप हुए थे जिन्होंने अकबर के छक्के छुड़ाये थे। इत्यादि ऐतिह्य प्रमाण का विषय है।

प्रमाण का सामान्य या विशेष लक्षण क्यों करना चाहिये ? इसका उत्तर देते हैं—प्रमेय सिद्धिः प्रमाणादिः, अर्थात् प्रमेयों की सिद्धि के लिये 'प्रमाण' की आवश्यकता होती है। अतः प्रमाण का सामान्य तथा विशेष लक्षण करना आवश्यक है ॥४॥

भाष्यम्

एवमेषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः, कियद्भिः प्रमाणैः केन, कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति ? इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते। यथा प्रस्थादिभिर्व्रीहयः, तुलया चन्दनानि। तस्मात् प्रमाणमभिधेयम्।

दृष्टमिति—दृष्टं यथा—श्रोत्रंत्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पञ्चानां पञ्चैव विषया यथासङ्ख्यम्। श्रोत्रं शब्द गृह्णाति, त्वक्=स्पर्शं, चक्षु—रूपं, जिह्वा - रसं, घ्राणं—गन्धमिति। एतद् 'दृष्ट'—मित्युच्यते प्रमाणम्। प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते, स आप्तवचनाद् ग्राह्यः। यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः स्वर्गेऽप्सरस इत्यादि। प्रत्यक्षानुमानाऽग्राह्यमप्याप्तवचनाद् गृह्यते। अपि चोक्तम्—

'आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात् ॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः ।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ॥१॥

ऐतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति । षट् प्रमाणानि, इति जैमिनिः । अथ कानि तानि प्रमाणानि ? । १. अर्थापत्तिः, २. सम्भवः ३. अभावः ४. प्रतिभा, ५. ऐतिह्यम्, ६. उपमानं चे'ति षट्प्रमाणानि । तत्राऽर्थापत्तिर्द्विविधा दृष्टा श्रुता च । तत्र दृष्टा—एकस्मिन् पक्षे आत्मभावे गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृह्यत एव । श्रुता यथा—दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते अथ च पीनो दृश्यते अतोऽवगम्यते—रात्रौ भुङ्क्त इति । सम्भवो यथा—'प्रस्थ' इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते । अभावो नाम प्रागितरेतराऽत्यन्त-सर्वाऽभावलक्षणः । प्रागभावो यथा—देवदत्तः कौमारयौवनादिषु । इतरेतराभावः—पटे घटाऽभावः । अत्यन्ताऽभावः—खरविषाण—वन्ध्यासुत—खपुष्पवदिति । सर्वाऽभावः=प्रध्वंसाऽभावो दग्धपटवदिति । यथा शुष्कधान्यदर्शनाद् वृष्टेरभावोऽवगम्यते । एवमभावोऽनेकधा । प्रतिभा यथा—

'दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम् ।
पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः ॥

एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते । प्रतिभा जानतां ज्ञानमिति । एतिह्यं यथा—ब्रवीति लोको यथा'ऽत्र यक्षिणी प्रतिवसती'त्येव ऐतिह्यम् । उपमानं यथा—गौरिव गवयः समुद्र इव तडागः । एतानि प्रमाणानि त्रिषु=दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि । तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता, सम्भवा-भाव-प्रतिभै-तिह्यो-पमानाश्चाप्तवचने । तस्मात्त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टम् । तदाह—'तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिः' भवतीति वाक्यशेषः । प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि । प्रमेयं=प्रधानं, बुद्धिरहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि, पुरुष इति । एतानि पञ्चतन्त्रम।त्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चविंशतितत्त्वानि 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ'... त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥४॥

अवतरणिका—सब प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वसम्मत है अतः सर्वप्रमाण ज्येष्ठ है; क्योंकि अनुमान आदि प्रत्यक्ष के विना नहीं बन सकते । अतः सर्व-प्रथम प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं— प्रमाण त्रय लक्षण।

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्त वचनं तु ॥५॥

[अन्वय—प्रतिविषयाध्यवसायः दृष्टम्, त्रिविधम्, अनुमानम्, आख्यातम्, तत् लिङ्ग–लिङ्गिपूर्वकम्, आप्तश्रुति, तु आप्तवचनम् ।]

"तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्" यह अनुमान का सामान्य लक्षण है, इस प्रकार अनुमान पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट भेद से तीन प्रकार का माना जाता है, ये भेद भी लिङ्गपूर्वक या लिङ्गिपूर्वक ही होते हैं । इसलिये इस वाक्य से उनका भी संग्रह किया जाता है । इसके आगे कारिका के आदि भाग की व्याख्या की जाती है, इतना प्रसङ्गवश कह दिया है ।

प्रत्यक्ष रूप प्रमा ही प्रतिविषय अध्यवसाय कहलाती है—अर्थात् जो प्रमा विषय के प्रति अपनी वृत्ति को उत्पन्न करती है उसका नाम प्रतिविषय है । प्रतिविषय शब्द ज्ञानेन्द्रियों का पर्यायवाची है अर्थात् विषय = अर्थ के साथ सन्निकृष्ट जो इन्द्रिय उस प्रतिविषय इन्द्रिय के व्यापार से उत्पन्न जो अध्यवसाय निश्चयात्मक ज्ञान उसका नाम प्रत्यक्ष प्रमा है । उसकी उत्पादक होने के कारण इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । इसका कारण यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ विषय-देश में जाकर विषयगत अज्ञान को नष्ट करती हैं । तदनन्तर अध्यवसाय की उत्पत्ति है (इस अध्यवसाय के विषय में सांख्यशास्त्र के दो पक्ष हैं—एक विज्ञान भिक्षु का, दूसरा वाचस्पति मिश्र का । विज्ञानभिक्षु के मत में पुरुष में विषया-कार-कारित ज्ञान का प्रतिबिम्ब होता है तथा विषयाकार ज्ञानों में पुरुष का प्रतिबिम्ब होता है । इस प्रकार परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हैं । किन्तु वाचस्पति मिश्र के मत में पुरुष का ही बुद्धि में ही प्रतिबिम्ब होता है ।)

प्रत्यक्ष के लक्षण के बाद अनुमान का लक्षण करते हैं 'तद्लिंगेत्यादि, लिङ्ग का अर्थ व्याप्य और लिङ्गी का अर्थ व्यापक है तथा लिङ्ग और लिङ्गी शब्द लिङ्गिज्ञान को बताते हैं । अत व्याप्यव्यापकभाव और पक्षधर्मता ज्ञानपूर्वक अनुमान होता है । यह अनुमान का सामान्य लक्षण बना । यह अनुमान तीन

प्रकार का है —पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। इसका भाव यह है कि अनुमान को दो भागों में बाँटा गया है—वीत (अन्वयी) और अवीत (व्यतिरेकी) अवीत अनुमान शेषवत्–अनुमान कहलाता है, जैसे कार्य के कारण का अनुमान, नदी का मलिन जल देखकर पर्वत पर पड़ी वृष्टि का अनुमान ऐसा ही है। वीत अनुमान के भी दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट, पूर्ववत् शब्द में मतुप् प्रत्यय हुआ है। अतः यह अर्थ हुआ कि पूर्व अर्थात् प्रत्यक्ष से जाना गया विषय जिस अनुमान ज्ञान का विषय है वह पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। जैसे धूम से वह्नि का ज्ञान। सामान्यतोदृष्ट जैसे—रूपादि ज्ञान रूपी कारणों का अनुमान अथवा आकाश में उड़ती हुई सारस पंक्ति को देखकर जलाशय का अनुमान। इस प्रकार अनुमान तीन प्रकार का है। शब्द का लक्षण करते हैं कि जो आप्त अर्थात् युक्तश्रुति=वाक्य जनित वाक्यार्थ ज्ञान है उसे आप्तवचन या शब्द प्रमाण कहते हैं। यह आप्त वाक्य स्वतः प्रमाण है। अतएव सृष्टि के आदि में उत्पन्न कपिल का सांख्यशास्त्र का ज्ञान स्वतः प्रमाण है। 'आप्त वचनं तु'। इस वाक्य में आए तु शब्द से यह बताया गया है कि शब्दप्रमाण अनुमान के द्वारा गतार्थ नहीं हो सकता। उपमान, अर्थापत्ति अभाव; सम्भव और ऐतिह्य प्रमाण भी इन तीन प्रमाणों के अन्दर समाविष्ट हो जाते हैं ॥५॥

भाष्यम्

तस्य किं लक्षणम् ? एतदाह-**प्रतिविषयेषु**=श्रोत्रादीनां शब्दादिविषये **अध्यवसायो**। **दृष्टम्**, प्रत्यक्षमित्यर्थः। **त्रिविधमनुमानमाख्यातम्**। पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेति। पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्। यथा मेघोन्नत्या वृष्टिं साधयति, पूर्वदृष्टत्वात्। शेषवद्यथा—समुद्रादेकं जलपलं लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति। सामान्यतो दृष्टं—देशान्तराद्देशान्तर दृष्टं गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्। यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य 'गतिमानयम्' इति, तद्वच्चन्द्रतारकमिति। तथा पुष्पिताऽऽम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति। एतत्सामान्यतोदृष्टम्। किञ्च तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति। तत्–अनुमानं, लिङ्गपूर्वकं—तत्र लिङ्गेन लिङ्गि अनुमीयते, यथा—दण्डेन यतिः, लिङ्गिपूर्वकं च–यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति। आप्तश्रुतिराप्तवचनं च आप्ताः=आचार्या ब्रह्मादयः

श्रुतिर्वेद: आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुति: तदुक्तम्–आप्तवचनमिति । एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ।।५।।

———

अवतरणिका —इस प्रकार व्यक्त अव्यक्त और पुरुष की सिद्धि के लिये प्रमाण का लक्षण कर दिया । इनमें से पृथ्वी आदि व्यक्त पदार्थों का ज्ञान अनगढ़ व्यक्ति को भी प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाता है । पूर्ववत् अनुमान से धूम से अग्नि की सिद्धि की जा सकती है जिसका ज्ञानशास्त्र से अध्ययन के बिना भी सम्भव है । अतः सांख्यशास्त्र की सार्थकता तभी हो सकती है जब उसके द्वारा किसी दर्जेय वस्तु को बतलाया जाय; अतः लिखते हैं – प्रमाणानामुपयोगः

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ।।६।।

[अन्वय - सामान्यतः तु, (प्रतीतिः) दृष्टात् (भवति), अतीन्द्रियाणां (प्रतीतिः), अनुमानात् (भवति), तस्माद्, अपि च, असिद्धं, परोक्षम्, आप्तागमात् सिद्धम् (भवति) ।]

अतीन्द्रिय पदार्थ जो प्रधान पुरुष आदि हैं उनकी प्रतीति सामान्यतोदृष्ट-दृष्टात उभयसिद्धिः' (उभय शब्द का अर्थ प्रधान और पुरुष है) यदि अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति केवल सामान्यतोदृष्ट अनुमान से हो सकती है । जिन अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में सामान्यतोदृष्ट अनुमान नहीं लग सकता है । उन स्वर्ग, अपूर्व (धर्माधर्म) देवता आदि का अभाव मानना पड़ेगा । अतः लिखते हैं—तस्मादपि = उस सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी जो वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती (कारिका में आये 'च' शब्द से शेषवत् अनुमान का भी ग्रहण किया गया है । अतः शेषवत् अनुमान से जिसकी सिद्धि नहीं हो सकती) उन परोक्ष पदार्थ की सिद्धि आप्तागम (शब्द) प्रमाण से होती है ।

भाष्यम्

तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम् ? उच्यते-सामान्यतो दृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणाम् = इन्द्रियाण्यतीत्य वर्तमानानां प्रतीतिः सिद्धिः । प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टेनानुमानेन साध्यते, यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणं, यस्येद त्रिगुणं

कार्यं तत् प्रधानमिति । यतश्चाऽचेतनं चेतनमिवाभाति अतोऽधिष्ठाता पुरुष इति । व्यक्तं-प्रत्यक्षसाध्यम् । तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् । यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम् ॥६॥

अवतरणिका— जिस प्रकार आकाश के फूल, कछुए के रोम और गधे के सींग आदि विषयों में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने के कारण उनका अभाव समझा जाता है। इसी प्रकार प्रधान पुरुष का अभाव क्यों न मान लिया जावे; क्योंकि वे दिखाई नही पड़ते। अतः विद्यमान वस्तुमात्र के प्रत्यक्ष न होने में जो कारण बन सकते हैं उन्हें गिनाते हैं—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ।७॥

[अन्वय –अतिदूरात् सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात् सौक्ष्म्याद् व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहारात् च (अर्थानामनुपलब्धिर्भवति) ।]

(१) अत्यन्त दूर होने से वस्तु नहीं दिखाई पड़ती; जैसे—आकाश में उड़ता हुआ पक्षी। (२) अतिसमीप होने से वस्तु दिखाई नहीं पड़ती; जैसे—आँख में लगा हुआ अंजन। (३) इन्द्रियों में दोष आ जाने से भी दिखाई नहीं पड़ता, जैसे बहरे को शब्द सुनाई नहीं पड़ता। (४) मन के एकाग्र न होने पर या अन्य विषय में लग जाने पर भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती, जैसे—शकुन्तला का मन दुष्यन्त में लगा होने के कारण उसे दुर्वासा का शाप सुनाई नहीं दिया। (५) सूक्ष्म होने से भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती; जैसे इन्द्रियों से संयुक्त होने पर भी परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता। (६) व्यवधान से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे पेड़ों की आड में पड़ा साँप नहीं दिखाई पड़ता। (७) अभिभव से भी किसी वस्तु का ठीक ज्ञान नहीं होता। जैसे—सूर्य के प्रकाश से तिरस्कृत तारों का दिन में प्रत्यक्ष नहीं होता। (८) समानाभिहार=उस जैसी में उस जैसी वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। चकार से जो हेतु नहीं बताया गया वह भी जान लेना चाहिये अतः अनुद्भव अभी तक उत्पन्न न होने के कारण; जैसे

दुग्धावस्था में दधि का स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता; क्योंकि वह अभी उत्पन्न नहीं हुआ है ॥७॥

भाष्यम्

अत्र कश्चिदाह—प्रधानं, पुरुषो वा नोपलभ्यते, यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति, तस्मात्तावपि न स्तः। यथा द्वितीयं शिरः तृतीयो बाहुरिति। तदुच्यते-अत्र सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति। तद्यथा—१ इह सतामप्यर्थानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा। यथा—देशान्तरस्थानां चैत्रमैत्र विष्णुमित्राणाम्। २ सामीप्याद्यथा चक्षुषाञ्जनानुपलब्धिः। ३ इन्द्रियाभिघाताद्यथा—बधिरान्धयोः शब्द-रूपानुपलब्धिः। ४ मनोऽनवस्थानाद्यथा—व्यग्रचित्तः सम्यक्कथितमपि नावधारयति। ५ सौक्ष्म्याद्यथा—धूमोष्म-जल-नीहार-परमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते। ६ व्यवधानाद्यथा—कुड्येन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते। ७ अभिभवाद्यथा—सूर्यतेजसाभिभूता ग्रहनक्षत्रतारकादयो नोपलभ्यन्ते। ८ समानाभिहाराद्यथा—मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः कुवलयामलकमध्ये कुवलयाऽमलके क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते, समानद्रव्यमध्याहृतत्वात्। एवमष्टधाऽनुपलब्धिः सतामर्थानामिह दृष्टा ॥७॥

अवतरणिका—उक्त कारणों में प्रधान या पुरुष का प्रत्यक्ष न होने का कौन-सा कारण है। यह बतलाते हैं—

सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाऽभावात् कार्यतस्तदुपलब्धिः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥८॥

[अन्वय—सौक्ष्म्यात्, तदनुपलब्धिः, न, अभावात् कार्यतः तदुपलब्धिः, कार्यं, महदादि तत् च प्रकृतिविरूपं, सरूपं च।]

प्रधान और पुरुष की अनुपलब्धि, सूक्ष्मता के कारण होती है। अभाव होने के कारण नहीं होती। उनकी अनुपलब्धि सूक्ष्मता के कारण नहीं है; क्योंकि कार्यों से उस (तत्, प्रधान की उपलब्धि होती है अर्थात् प्रधान के वे कार्य महत आदि हैं) जो कि प्रकृति के समान हैं और प्रकृति के समान नहीं भी हैं। कौनसा कार्य प्रकृति के सदृश है और कौनसा कार्य प्रकृति के सदृश नहीं है।

इस बात का विवेचन 'हेतुमद्' इत्यादि दसवीं कारिका में किया गया है ।।८।।

भाष्यम्

एवं चाऽस्ति किमभ्युपगम्यते—प्रधानपुरुषयोरपि-एतयोर्वाऽनुपलब्धिः केन हेतुना, केन चोपलब्धिः ? तदुच्यते—सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः । प्रधानस्येत्यर्थः प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, यथाकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः सन्तो नोपलभ्यन्ते । कथं तर्हि तदुपलब्धिः ? । 'कार्यतस्तदुपलब्धिः' । कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते । अस्ति प्रधानं कारणं—यस्येदं कार्यम् । बुद्धिरहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्येव तत्कार्यम् । तच्च कार्यं—'प्रकृतिविरूपम्' । प्रकृतिः=प्रधानं, तस्य विरूपं=प्रकृतेरसदृशम् । सरूपं च । समानरूपं च । यथा लोकेऽपि पितुस्तुल्य इह पुत्रो भवत्यतुल्यश्च । येन हेतुना तुल्यमतुल्यं, तदुपरिटाद्वक्ष्यामः ।।८।।

———

अवतरणिका—कार्य से कारण मात्र की प्रतीति होती है । वह कार्य सद्रूप है या असद्रूप है । यह विचार करना आवश्यक है । बौद्धों का कथन है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है; क्योंकि बीज नष्ट हो जाने पर अंकुर निकलता है । वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि सत् में असत् का प्रतिभास होता है । कार्य की प्रतीति विवर्त[1] रूप में होती है । नैय्यायिकों का मत है कि सत् से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है, कारण में कार्य पहले से नहीं रहता है, बाद में जन्म लेता है । सांख्य का मत है कि सत् की उत्पत्ति होती है इनमें आदि के तीन मतों में प्रधान की सिद्धि नहीं हो सकती अतः सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए लिखते हैं— सत्कार्यवादव्यापनम्

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।९।।

[अन्वय—असदकरणात् उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावात्, च कार्यं, सत् ।]

---

१ विवर्त का लक्षण है—

यस्तात्विकोऽन्यथाभावः परिणामः स ईरितः ।
अतात्विकोऽन्यथाभावो विवर्त समुदीरितः ।। इति ।।

१. असदकरणात्—कार्य को कारण में सत् मानना चाहिए। पहिले से विद्यमान मानना चाहिए; क्योंकि असत् से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि वस्तु पहले से ही नहीं है तो कारणकलाप के आने पर उत्पन्न न होगी। जैसे वालू में तेल नहीं इसलिये बालूका से तेल उत्पन्न न होगा। सत् से ही सत् की उत्पत्ति देखी जाती है जैसे तिलों से तेल की उत्पत्ति होती हैं।

२. उपादानग्रहणात्—उपादान=कारण, उसका ग्रहण कार्य के साथ सम्बन्ध अर्थात् कार्य से सम्वद्ध करना ही कार्य का जनक होता है। असत् कार्य का सम्वन्ध असम्भव है अतः कार्य उत्पत्ति के पूर्व सत् है।

३. सर्वसम्भवाभावात्—यदि विना सम्वन्ध के कारण कार्य को उत्पन्न करने लगे तो सींग से भी दूध की उत्पत्ति होनी चाहिए, दुग्धरूपी कार्य का सम्वन्ध जैसा गाय से नहीं वैसा सींग से भी नहीं अथवा प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये पर ऐसा होता नहीं। अतः कार्य उत्पत्ति के पूर्व सत् है। सर्वस्मात् सर्वसंभवस्याऽभावात् यद्वा एकस्मात् सर्वसंभवस्याभावादित्यर्थः, अन्यथैकमेव वस्तु सर्वं वस्तु जनन समर्थ स्यात्।

४. शक्तस्य-शक्यकारणात्—शक्तिमान में जो शक्य है उसकी उत्पत्ति देखी जाती है। वह कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति कारण में पहले से रहती है अतः सत् कार्य है।

५. कारणभावात् च—कार्य कारण स्वरूप माना जाता है, कारण से भिन्न नहीं अथवा कार्य कारण भाव सम्बन्ध के होने से ऐसी अवस्था में यदि कारण सत् है तो कार्य असत् नही हो सकता।

गीता में लिखा है कि "नास्तो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः" यदि कारण और कार्य में अभेद है एक तन्तु से भी आवरण रूपी कार्य होना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि जैसे एक नौकर पालकी नहीं उठा सकता, चार उठाते हैं; क्योंकि प्रत्येक में उठाने की शक्ति है इसी प्रकार एक तन्तु आवरण नहीं कर सकता अनेक मिलकर आवरण कार्य को कर लेते हैं। प्रत्येक तन्तु में आवरण शक्ति रहती है। इन हेतुओं से सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है ॥९॥

भाष्यम्

यदिदं महदादिकार्यं तत् किं प्रधाने सत्, उताहोस्विदसत्? । आचार्यविप्रतिपत्तेरयं संशयः। यतोऽत्र साङ्ख्यदर्शने सत्कार्यं, बौद्धादीनामसत्कार्यम्।

यदि सत् असन्न भवति । अथाऽसत्, सन्न भवतीति विप्रतिषेधः । तत्राह–अस
न सत्-असत् असतोऽकरणं तस्मात्सत्कार्यम् । इह लोकेऽसत् करणं नास्ति, य
सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्त
अतः 'सत्कार्यम्' । किञ्चान्यत् उपादानग्रहणात् । उपादानं = कारणं, त
ग्रहणात् । इह लोके यो येनार्थी, स तदुपादानग्रहणं करोति । दध्यर्थी क्षीर
न तु जलस्य । तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च-सर्वसम्भवाभावात् सर्वस्य स
सम्भवो नास्ति । यथा सुवर्णस्य रजतादौ, तृणपांशुसिकतासु । तस्मात् सर्वस
वाभावात् सत्कार्यम् । इतश्च शक्तस्य शक्यकरणात् । इह कुलालः शक्तो मृद
चक्रचीवररज्जुनीरादिकरणम्, उपकरणं वाशक्यमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पाद
तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च, कारणभावाच्च सत्कार्यम् कारणं यल्लक्षण
तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः व्रीहिभ्योः व्रीहयः । यदाऽसत
स्यात्ततः कोद्रवेभ्यः शालयः स्युः, न च सन्तीति, तस्मात् सत्कार्यम् ।
पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादि लिङ्गमस्ति । तस्मात् सत् उत्पत्तिर्न
इति ॥९॥

— —

अवतरणिका—इस प्रकार प्रधान की सिद्धि के साधक सत्कार्यवाद
सिद्धि करनी है उसके स्वरूप को बताने के लिये विवेक ज्ञान के उपयोगी
और अव्यक्त के सारूप्य और वैरूप्य को बताते हैं—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
साऽवयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

[अन्वय व्यक्तं हेतुमत्, अनित्यम्, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आ
लिङ्गं, सावयवं, परतन्त्रं (अस्ति), अव्यक्तं, विपरीतम् ।]

व्यक्त पदार्थ हेतुमान्, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक, पराश्रित, सा
व परतन्त्र होते हैं । इनसे भिन्न अव्यक्त पदार्थ होता है । जिसका विभा
निम्नलिखित प्रकार से है—

(कार्य) व्यक्त	(कारण) अव्यक्त
१. हेतुमत्	अहेतुमान्
२. अनित्य	नित्य

३. अव्यापक	व्यापक
४. क्रियायुक्त	क्रियाहीन
५. अनेक	एक
६. पराश्रित	आश्रयभूत
७. लिङ्ग	अलिङ्ग
८. सावयव	निरवयव
९. परतन्त्र	स्वतन्त्र

इस कारिका में उक्त प्रकार से व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य और वैधर्म्य बतलाया गया है, इस प्रकार व्यक्तों में हेतुमद् पारतन्त्र्य पर्यन्त साधर्म्य होता है तथा अव्यक्त अहेतुमत्त्व से स्वातन्त्र्यपर्यन्त सार्थक होता है ॥१०॥

भाष्यम्

'प्रकृतिविरूपं सरूपं च' (इति) यदुक्तं तत् कथमित्युच्यते—व्यक्तं महदादिकार्यं—(१) हेतुमदिति। हेतुरस्यास्ति हेतुमत्। उपादानं, हेतुः कारणं, निमित्तमिति पर्यायाः। व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमद्व्यक्तं भूतपर्यन्तम्। हेतुमद्बुद्धितत्त्वं प्रधानेन, हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण। आकाशं शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्। वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान्। तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत्। आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः। पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती। एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत्। किञ्चान्यत्—(२) अनित्यम्। यस्मादन्यस्मादुपद्यते। यथा—मृत्पिण्डादुपद्यते घटः, स चाऽनित्यः। किञ्च—(३) अव्यापि। असर्वगमित्यर्थः। यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ, नैवं व्यक्तं। किंचान्यत् - (४) सक्रियं। संसारकाले संसरति। तस्मात् सक्रियम्। किंचान्यत्—(५) अनेकं। बुद्धिरहङ्कारः, तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि चेति। किंचान्यत् – (६) आश्रितम्। स्वकारणमाश्रयते। प्रधानाश्रिता बुद्धिः, बुद्धिमाश्रितोऽहङ्कारः, अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि च। पञ्चतन्मात्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानि। किञ्च (७) लिङ्गं—लययुक्तं। प्रलयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते। तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे। स च बुद्धौ। सा च प्रधाने लयं यातीति। तथा—(८) सावयवम्। अवयवाः—शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तैः सह। किञ्च—(९) परतन्त्रं। नाऽऽत्मनः प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धिः, बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि

च, तन्मात्रतन्त्राणि पञ्चमहाभूतानि च। एवं परतन्त्रं=परायत्तं। व्याख्या व्यक्तम्।

अथोऽव्यक्तं व्याख्यास्यामः। विपरीतमव्यक्तम्। एतैरेव गुणैर्यथोक्तैर्विपरी मव्यक्तं। हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्। न हि प्रधानात् पर किञ्चिदस्ति, अतः प्रधा स्यानुत्पत्तिः तस्माद् (१) अहेतुमदव्यक्तम्। तथा—(२) अनित्यं च व्य नित्यमव्यक्तमनुत्पाद्यत्वात्। नहि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्तं प्र (नित्यं) किंचाव्यापि व्यक्तं, (३) व्यापि प्रधानं, सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्य (४) अक्रियमव्यक्तं, सर्वगतत्वादेव। तथानेकं व्यक्तम्, (५) एकं प्र कारणत्वात्। त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं, तस्मादेकं प्रधानम्। तथा व्यक्तम् (६) अनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं, प्रधानं कार्यं स्यात्। तथा व्यक्तं लिङ्गम्, (७) अलिङ्गमव्यक्तं, नित्यत्वा महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते, नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधान तथा सावयवं व्यक्तं, (८) निरवयवमव्यक्तं। न हि शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः प्र सन्ति। तथा परतन्त्रं व्यक्तं, (९) स्वतन्त्रमव्यक्तं, प्रभवत्यात्मनः ॥१२॥

अवतरणिक—इसी प्रकार पुरुष और व्यक्ताव्यक्त का साधर्म्य और वै बताते हैं—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

[अन्वय—व्यक्तं, तथा प्रधानं, त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामा अचेतनं, प्रसवधर्मि, तथा च, पुमान्, तद्विपरीतः।]

अव्यक्त स्वयं तथा व्यक्तपदार्थ त्रैगुण्य वाले, ज्ञानशून्य, दृश्यरूप, साधारण, चेतन से भिन्न, जन्यजनक भाव वाले होते हैं। किन्तु पुरुष नित् तथा अहेतुभाव को छोड़कर अन्य गुणों में प्रधान से सर्वथा विपरीत है— चार्ट द्वारा बतलाया गया है:—

व्यक्ताव्यक्त	पुरुष
१. त्रिगुण	त्रिगुण रहित
२. अविवेकी	विवेकी

३. विषय (इन्द्रियग्राह्य) (विषयी इन्द्रियग्राह्य)
४. साधारण (सामान्य) अर्थात् असाधारण
(अनेक प्रकार के ज्ञानों का आलम्बन = अनेक पुरुष ग्राह्य)
५. अचेतन चेतन
६. प्रसवशील अनुत्पादक

इतने अंशों में प्रधान और पुरुष का वैधर्म्य है। प्रधान के साथ अहेतुमत्व और नित्यत्व से साधर्म्य भी है। इस प्रकार प्रधान पुरुष का अधिक अंशों में वैधर्म्य और कुछ अंश में साधर्म्य है।।११।।

भाष्यम्

एवं व्यक्ताऽव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते । यदुक्तं—'स्वरूपं च'। (१) त्रिगुणं व्यक्तं, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति। (२) अविवेकि व्यक्तं न विवेकोऽस्यास्तीति । इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति । अयं गौरयमश्व इति यथा । ये गुणास्तद्व्यक्तं, यद्व्यक्तं ते च गुणा इति । तथा—(३) विषया व्यक्तं भोग्यमित्यर्थः । सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात् । तथा—(४) सामान्यं व्यक्तं, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात् । (५) अचेतनं व्यक्तः सुखदुःखमोहान्न चेतयतीत्यर्थः । तथा—(५) प्रसवधर्मि व्यक्तं । तद्यथा—बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते, तस्मात् । पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणी च प्रसूयन्ते, तन्मात्रेभ्यः—पञ्चमहाभूतानि । एवमेते व्यक्तधर्माः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः एवमेभिर्व्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति । तत्र (१) त्रिगुण व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुणं, यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम् । इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति । यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति । तथा—(२) अविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते, अन्ये गुणाः, अन्यत् प्रधानमेव विवेकं न याति। तद् अविवेकि प्रधानम् । तथा (३) विषयो व्यक्तं प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वाद् विषय इति । तथा (४) सामान्यं व्यक्तं, प्रधानमपि सर्वसाधारणत्वात् । तथा (५) अचेतनं व्यक्तं, प्रधानमपि; सुखदुःखमोहान्न चेतयतीति । कथमनुमीयते ? इह ह्यचेतनान्मृत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते । तथा—(६) प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानमपि प्रसवधर्मि । यतः प्रधानाद्बुद्धिरुत्पद्यते । एवं प्रधानमपि व्याख्यातम् । इदानीं तद्विपरीतस्तथा च पुमानित्येतद् व्याख्यायते । तद्विपरीतः । ताभ्यां = व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः—पुमान् तद्यथा—(१) त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं

च, अगुण: पुरुषः (२) अविवेक व्यक्तमव्यक्तं च, विवेकी पुरुषः । तथा (३) विषयो व्यक्तमव्यक्तं च अविषयः पुरुषः । तथा (४) सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्यः पुरुषः (५) अचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च चेतनः पुरुषः । सुखदुःखमोहां-श्चेतयति = सञ्जानीते तस्माच्चेतनः पुरुषः इति । (६) प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानं च अप्रसवधर्मी -रुषः । न हि किञ्चित् पुरुषात् प्रसूयते । तस्माद्युक्तं तद्विपरीतः पुमानिति । तदुक्तं—'तथ च पुमान्' इति । यत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधानमहेतु-मद्यथा व्याख्यातं, तथा च पुमान् । तद्यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं, तद्वि-परीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमद्व्यक्तमहेतुमत् प्रधानं तथा च नित्यः पुमान् । अव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगत्वात् । सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः सर्वगतत्वादेव । अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः । आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं, तथा पुमाननाश्रितः । लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं प्रधानं, तथा च पुमानप्यलिङ्गः । न क्वचिल्लीयत इति । सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्त, तथा च पुमान् निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयो-ऽवयवाः सन्ति । किञ्च परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः ॥११॥

— गुण स्वरूप निरूपण

अवतरणिका—तीन गुणों में किस-किस गुण में क्या-क्या धर्म रहता है और प्रत्येक का क्या स्वरूप है ? यह बताते हैं—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

[अन्वय—गुणाः, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्थाः, अन्यो-न्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च ।]

तीन गुणों में किसी अंश में साधर्म्य, किसी अंश में वैधर्म्य है । सत्त्व, रज और तम तीनों १. अन्योन्याभिभववृत्ति, २. अन्योन्याश्रयवृत्ति, ३. अन्योन्य-जननवृत्ति, ४. अन्योन्यमिथुनवृत्ति अर्थात् अविनाभाववर्ती होते हैं, यही इनका साधर्म्य है तथा निम्नलिखित रूप से इनमें वैधर्म्य भी है—

सत्त्व	रज	तम
प्रीति	अप्रीति	विषाद
प्रकाश	प्रवृत्ति	नियम
सुख	दुःख	मोह

भाष्यम्

एवमेतद्व्यक्तपुरुषोः साधर्म्यं व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायाम्। व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं पुरुषस्य वैधर्म्यं च त्रिगुणमविवेकी,' इत्यादि प्रकृताऽऽर्यायां व्याख्यातम्। तत्र यदुक्त—'त्रिगुण' मिति व्यक्तमव्यक्तं च। तत् के ते गुणा इति ?। तत्स्वरूपप्रतिपादनायेदमाह—प्रीत्यात्मका, अप्रीत्यात्मका, विषादात्मकाश्च गुणाः=सत्त्वरजस्तमासीत्यर्थः तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वं। प्रीतिः=सुख, तदात्मकमिति। अप्रीत्यात्मकं रजः। अप्रीतिर्दुःखम्। विषादात्मकं तमः। विषादो मोहः। तथा प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अर्थशब्द—सामर्थ्यवाची। प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः। प्रवृत्त्यर्थ—रजः। नियमार्थतमः, स्थितौ समर्थमित्यर्थः। प्रकाशक्रिया-स्थितिशीला गुणा इति तथा—अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च। अन्योऽन्याभिभवाः अन्योऽन्याश्रयाः, अन्योऽन्यजननाः, अन्योऽन्यमिथुनाः, अन्योऽन्यवृत्तयश्च ते यथोक्ताः। अन्योऽन्याभिभवा इति। अन्योऽन्यं परस्परमभिभवन्तीति, प्रीत्यप्रीत्यादिभिर्धर्मैरभिभवन्ति। यथा–यदा सत्त्वमुत्कटं भवति, तदा रजस्तमसी अभिभूत, स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते। यदा रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्त्यात्मना धर्मेण। यदा तमस्तदा सत्त्वतमसी विषादस्थित्यात्मकेन इति। तथाऽन्योन्याश्रयाश्चद्व्यणुकवद् गुणाः। अन्योऽन्यजननाः यथा मृत्पिण्डो घटं जनयति। तथा अन्योऽन्यमिथुनाश्च। यथा स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिथुनौ, तथा गुणाः उक्त च—

> 'अन्योऽन्य मिथुना, सर्वे, सर्वे सर्वत्र गामिनः।
> रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
> तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसो उभे।
> उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते।
> नैषामादिः सम्प्रयोगो, वियोगो वोपलभ्यते॥'

परस्परसहाया इत्यर्थः अन्योऽन्यवृत्तयश्च। परस्परं वर्तन्ते, गुणाः गुणेषु वर्तन्ते' इति वचनात्। यथा सुरूपा सुशीला स्त्री (पत्युः) सर्वसुखहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति। एवं सत्त्वं रजस्तमसोर्वृत्तिहेतुः। यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालेन, दुष्टनिग्रहेण शिष्टानां सुखमुत्पादयति,

दुष्टानां दुःख मोहं च। एवं रजः—सत्त्वरजसोर्वृत्तिं जनयति। यथा तमः—स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्त्वरजसोर्वृत्तिं जनयति। यथा मेघाः खमावृत्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वृष्ट्या कर्षकाणां कर्षणोद्योग जनयन्ति, विरहिणां मोहम्। एवमन्योऽन्यवृत्तयो गुणाः ॥१२॥

अवतरणिका—उक्त गुणों का क्या-क्या काम है तथा उनका उक्त स्वरूप किस प्रकार बन जाता है ? यह लिखते हैं—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्चरजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः ॥१३॥

[अन्वय—सत्त्वं, लघुः प्रकाशकम्, इष्टम्, रजः, उपष्टम्भकं, चलं च. तमः, गुरु, वरणकम्, एव प्रदीपवत् च, अर्थतः, वृत्तिः।]

सत्त्व	रज	तम
लघु	(सहारा देने वाला) उपष्टम्भक	गुरु
प्रकाशक	चञ्चल	आवरणशील

इस प्रकार ये तीनों गुण यद्यपि परस्पर विरोधी है तथापि दीपक की तरह मिलकर प्रत्येक व्यक्ति धर्माधर्मानुसार (पुरुषार्थ के कारण) कार्य करते हैं। जैसे दीपक में रुई की वत्ती, आग, तेल परस्पर विरोध होने पर भी मिल करके वस्तुओं का प्रकाश करते हैं अथवा जिस प्रकार वात, पित्त, कफ परस्पर विरोधी होने पर शरीर का धारण रूपी कार्य करते हैं। इसी प्रकार यह तीनों गुण पुरुषार्थ रूपी मिट्टी के बने शरीर रूपी दीपक के आधार में रहकर; सत्त्व गुण रूपी अग्नि, तमोगुण रूपी रुई की वत्ती को, रजोगुण रूपी तेल के कारण भस्म नहीं कर सकते। किन्तु दीपक से अर्थ प्रकाश की तरह शरीर से सुख-दुःख रूपी अर्थ प्रकाश होता रहता है ॥१३॥

भाष्यम्

सत्त्वं—लघु, प्रकाशकं च। यदा सत्त्वमुत्कटं भवति, तदा लघून्यङ्गानि, बुद्धिप्रकाशश्च, प्रसन्नतेन्द्रियाणां भवति। उपष्टम्भकं चलं च रजः। उपष्टभ्नातीत्युपष्टम्भकम्=उद्द्योतकं। यथा वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति,

एवं रजोवृत्तिः। तथा रजश्च चलं दृष्टं। रजोवृत्तिश्चलचित्तो भवति। गुरुवरण-कमेव तमः। यदा तम उत्कटं भवति गुरूण्यङ्गानि, आवृतानिन्द्रियाणी भवन्ति स्वार्थाऽसमर्थानि। अत्राह—यदि-गुणाः परस्परं विरुद्धाः तर्हि कथं? स्वम-तेनैकमर्थं निष्पादयन्ति। प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः। प्रदीपेन तुल्यं - प्रदीपवत् अर्थतः=अर्थसाधनाय वृत्तिरिष्टा। यथा प्रदीपः परस्परविरुद्धतैलाग्निवर्ति-संयोगादर्थप्रकाशाञ्जनयति, एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यथ निष्पाद-यन्ति ॥१३॥

अवतरणिका—जो पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत हैं उनमें अविवेकित्व का ज्ञान अनुभव किया जा सकता है किन्तु जो सत्त्व आदि तीन गुण हमारे ज्ञान के विषय नहीं उनमें अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेननत्व और प्रसव-धर्मात्व का ज्ञान कैसे हो सकता है। इसका उत्तर देते हैं—

अविवेक्यादिः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

[अन्वय=अविवेक्यादिः, सिद्धः त्रैगुण्यात्, तद्विपर्ययाभावात् कार्यस्य, कारणगुणात्मकत्वात्, अव्यक्तमपि सिद्धम्।]

सत्त्व आदि तीन गुणों में अविवेकित्व आदि उक्त धर्म रहते हैं, इसका कारण है उनका त्रिगुणमय होना। जो-जो वस्तु सुख-दुःख मोहात्मक होती है वह अविवेकित्व आदि धर्म वाली होती है जैसे घड़ा आदि इस अनुमान से तथा अविवेकित्व आदि धर्म से रहित पुरुष में त्रैगुण्य का अभाव दिखाई पड़ता है। यह तद्विपर्ययाभावात् इस हेतु का अर्थ है, तथा यह व्यतिरेकी हेतु है। इस प्रकार अविवेकित्व आदि धर्म पृथ्वी आदि कार्यों तथा सत्त्व आदि कारणों में रहते हैं यह सिद्ध हुआ। यदि कोई कहे कि अविवेकी आदि धर्म अव्यक्त में तब रहेंगे जबकि अव्यक्त की सिद्धि कर ली जाये, क्योंकि विना धर्मी के धर्म नहीं रह सकता है। इस शङ्का का समाधान करते हैं कि कार्य=पृथ्वी आदि अविवेकित्व गुण वाले दिखाई पड़ते हैं और यह गुण इन कार्यों में कैसे आ सकता है, यदि इनके कारणों में न होता। क्योंकि कार्य कारण स्वरूप होता है; तथा कार्य के गुण कारण के गुण से ही आते है। अतएव पृथ्वी आदि कार्यों के द्वारा अदृश्य-

मान व्यक्ति की सिद्ध हो जाती है। यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह अव्यक्त भी अविवेकित्व आदि गुणों वाला है। १४॥

भाष्यम्

अन्तरप्रश्नो भवति—'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादिना प्रधानं, व्यक्तं च व्याख्यातम्। तत्र-प्रधानम्, उपलभ्यमानं महदादि च 'त्रिगुणमविवेक्यादी' ति च कथमवगम्यते ? । तत्राह—योऽयमविवेक्यादिर्गुणः स-त्रैगुण्यात्—महदादी व्यक्तेनायं सिध्यति। अत्रोच्यते—तद्विपर्ययाभावात्। तस्य विपर्ययः, तद्विपर्ययः तस्याऽभावः तद्विपर्ययाऽभावः, तस्मात्-सिद्धमव्यक्तम्। यथा—यत्रैव तन्तवस्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः ?, तद्विपर्ययाऽभावात्। एवं व्यक्तादव्यक्तमामन्नं भवति। दूर प्रधानमासन्नं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाभावात्। इतश्चाऽव्यक्तं सिद्धं—कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य। लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव पटो भवति। एवं महदादि लिङ्गम्—अविवेकि, विषयः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। यदात्मकं लिङ्गं तदात्मकव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

———

अवतरणिका—कणाद मुनि के मत में व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है। अर्थात् व्यक्त परमाणु व्यक्त पृथ्वी आदि को उत्पन्न करते हैं किन्तु उत्पद्यमान पृथिव्यादि कार्य पहले से कारण से विद्यमान नहीं रहता अतएव इनके मत में आरम्भवाद या असत् कार्यवाद माना जाता है। यही मत अक्षपाद मुनि को अभिप्रेत है। इस प्रकार जव व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति बन सकती है तो अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है इसका उत्तर देते हैं— अव्यक्त कारण सिद्धो हेतु प-चांरा:

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥

[अन्वय—भेदानां, परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः, प्रवृत्तेः च, कारणकार्यविभागात् वैश्वरूपस्य, अविभागात्, (अव्यक्तं, कारणम्, अस्ति)।]

भेदानां = कार्यों या महद् आदि विषयों का, कारण = मूल कारण, अव्यक्त है, व्यक्त नहीं (भेदानां कारणं अव्यक्तम् अस्ति) इस प्रकार इस कारिका का अन्वय होता है वैश्वरूप्य पद में स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय है = विश्वरूप = समस्त

कार्य जगत् के कारण में स्थित रहता है। यह अविभाग है, तदनन्तर उत्पत्ति के समय कारण से कार्य का विभाग हो जाता है जैसे पृथ्वी से वृक्ष, वृक्ष से कुन्दे, कुन्दे से तख्ते, तख्ते से मेज, कुर्सी आदि का उत्तरोत्तर विभाग हो जाता है। जिस प्रकार कछुएं या गिजाई में से उसके हाथ, पैर, गर्दन आदि शनैः शनैः प्रकट होते हैं वैसे ही यहाँ भी कारण से कार्य का आविर्भाव होता जाता है तथा प्रलय के समय कुर्सी का तख्ते में, तख्ते का सलीपर या तने में या कुन्दे में, कुन्दे का वृक्ष में और वृक्ष का पृथ्वी में, पृथ्वी का गन्धतन्मात्रा में, इस प्रकार पूर्व-पूर्व में अविभाग=लय होता जाता है। यही अव्यक्त की सिद्धि करता है। इसी प्रकार कारण शक्ति से कार्य की उत्पत्ति भी अव्यक्त को सिद्ध करती है। यहाँ तक 'अविभागात्, तथा वैश्वरूप कारणकार्य विभागात्, इन पदों की व्याख्या हुई।

भाष्यम्

'त्रैगुण्यादविवेक्यादिर्व्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्' एव 'कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्ध'मित्येतन्मिथ्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्तीति न वाच्यं, सतोऽपि पाषाणगन्धादेरनुपलम्भात्। एवं प्रधानमप्यस्ति, किन्तु नोपलभ्यते, तदाह-कारणमस्त्यव्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः। भेदानां परिमाणात् लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दृष्टं, यथा कुलालः परिमितेर्मृत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति। एवं महदपि=महदादि लिङ्गं परिमितं—भेदतः। प्रधानकार्यम्—एका बुद्धिरेकोऽहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानीति। एवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं, यदुक्तं परिमितमुत्पादयति। यदि प्रधानं न स्यात्, तदा निष्परिमाणमिदं व्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदानामस्ति प्रधान यस्माद् व्यक्तमुत्पन्नम्। तथा समन्वयात्। इह लोके प्रसिद्धिर्दृष्टा, यथा व्रतधारिणं वटुं दृष्ट्वा समन्वयति—नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणा' विति एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत् कारणं भविष्यती'ति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम्। तथा—शक्तितः प्रवृत्तेश्च। इह यो यस्मिन् शक्तः स तस्मिनेवार्थे प्रवर्तते, यथा कुलालो करणे समर्थो, घटमेव करोति न पटं, रथं वा, तथा-अस्ति प्रधानं कारणं कुतः ?—कारणकार्य विभागात्। करोतीति कारणम्। क्रियत इति कार्यम्। कारणस्य, कार्यस्त च विभागो, यथा घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो [illegible] न

एवं महदादि लिङ्गं दृष्ट्वाऽनुमीयते, 'अस्ति विभक्तं तत्का-
चैवं घटो मृत्पिण्डम्। एवं महदादि लिङ्गं दृष्ट्वाऽनुमीयते, 'अस्ति विभक्तं तत्का-
रणं यस्य विभागं इदं व्यक्त'मिति। इतश्च—अविभागात् वैश्वरूपस्य। विश्वं
=जगत् तस्य रूपं=व्यक्तिः। विश्वरूपस्य भावो-वैश्वरूपं, तस्याऽविभागादस्ति
प्रधानम्। यस्मात् त्रैलोक्यस्य पञ्चानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं
विभागो नास्ति, महाभूतेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाश-
मित्येतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलयकाले सृष्टिक्रमेणैवाऽविभागं यान्ति तन्मात्रेषु
परिणामिषु, तन्मात्रण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे अहङ्कारो-बुद्धौ, बुद्धिः प्रधाने।
एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृतावविभागं गच्छन्ति, तस्मादविभागात् क्षीरदधिवद्
व्यक्ताऽव्यक्तयोरस्त्यव्यक्तं कारणम् ॥१५॥

अव्यक्तप्रकृति प्रकारद्वयम्

कारणमस्त्यव्यक्तम् प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः[1] सलिलवत्प्रतिप्रति गुणाश्रय[2] विशेषात् ॥१६॥

[अन्वय—त्रिगुणतः समुदयात् च, प्रवर्तते, परिणामतः सलिलवत् प्रति
गुणाश्रयविशेषात्। अव्यक्तम् कारणं अस्ति।]

कारण में यदि कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति न रहे, तो कार्य उत्पन्न ही
नहीं हो सकता और वह शक्ति कार्य की कारण में अव्यक्त रूप से स्थिति रूप
ही मानी जा सकती है। जैसे सरसों के बीजों में तेल अव्यक्त रूप से रहता है

टि०—परिणामतः इति

जहद् धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
तत्वदाप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते ॥

(१) प्रस्पन्दलक्षणा क्रिया प्रधाने सौक्ष्यान्न भवति परिणामलक्षणा तु भवति।
यथा-पालाशं पलाशे पलाशादप्रच्युतनिमित्तान्तरस्यातपादेरनुग्रहाच्छ्यामतां तिरो-
भाव्य पीतत्वं व्रजति तथेदं द्रष्टव्यम्।

(२) गुणं गुणं प्रति इति प्रतिगुणं आश्रयः प्रतिगुणाश्रयः प्रतिगुणाश्रयं प्रति-
गुणाश्रयं प्रति इति प्रतिप्रतिगुणाश्रयं यः—विशेषः स तस्मात् इति समास. यथा
अम्भः—अकस्मात् प्रच्युतं गोभुजङ्गोष्ट्रम् आश्रयविशेषात्, क्षीरविषमूत्ररूपत्वं
प्रतिपद्यते।

इसलिये उन बीजों से तेल की उत्पत्ति होती है। बालू के कणों में वह अव्यक्त रूप से नहीं रहता अतः वे तेल उत्पादन में अशक्त है।

परिमाण रूपी हेतु भी अव्यक्त का साधन है। कार्यों का परिमित=एक देशवर्ती या अव्यापि होना उनके किसी मूल अव्यक्त का कारण का साधन है। संसार में जितनी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं, ये सब परिच्छिन्न परिमाण वाली है। बुद्धि भी परिच्छिन्न परिमाण वाली है। जो जो परिच्छिन्न परिमाण वाला होता है वह अव्यक्त से ही उत्पन्न होता है। इस व्याप्ति से बुद्धि कारण अव्यक्त सिद्ध होता है। अतः 'परिमाणात्' इस हेतु में ल्युट् प्रत्यय भाव में किया गया है और उसका अर्थ परिमित या परिच्छिन्नता है। समन्वयात्= समन्वय रूप हेतु से भी अव्यक्त की सिद्धि होती है। संसार की वस्तुएँ सुख-दुःख मोह से समन्वित हैं अतः उसका कारण भी वैसा होगा जो है सो अव्यक्त है। कारण से कार्य का विभाग आविर्भाव होता है जैसे मृतपिण्ड से घटादि का। या हेम पिण्ड से मुकुट रुचक आदि का। इससे विपरीत कारण में कार्य का अविभाग=लय होता है जैसे कार्य में=पंचतन्मात्राओं में अहंकार का। यह कारण कार्य विभागात् व अनविभागात् की पुनः व्याख्या है शक्तित प्रवृत्तेश्च। इसकी व्याख्या करते हैं—यहाँ प्रवृत्ति का अर्थ उत्पत्ति है। कारण शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति या उत्पत्ति होती है। क्योंकि अशक्त कारण से कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता यह शक्ति कारण में रहती है तथा कार्य की अव्यक्तावस्था का ही यह नामान्तर है। परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च इन समस्थलों पर अनुमान का प्रयोग करना चाहिये। यहाँ "परिमाणात्" का अर्थ अव्याप्तित्व है, 'अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है। विवादाध्यासिताः महदादयः अव्यक्त-जन्या, परिमितत्वात् अथवा सुखादि समन्वितत्वात् इत्यादि। यदि 'प्रवृत्तेश्च हेतु को पृथक् माना जाये तो इसका अर्थ हो गया प्रत्येक पुरुष को प्रवृत्ति घट बनाने के लिये मिट्टी के लिए होती है।

भिन्न वस्तुओं की समानरूपता का नाम समन्वय हैं। इन हेतुओं से अव्यक्त की सिद्धि की गई है। अब वह अव्यक्त किस प्रकार प्रवृत्त होता है यह बताते हैं कि प्रलयकाल में तीनों गुणों को प्रवृत्ति समान आकार वाली होती है अर्थात् सत्त्वगुण में सत्त्वगुणाकार परिणाम, रजोगुण में रजोगुणाकार परिणाम होता है, क्योंकि इन गुणों का स्वभाव प्रतिक्षण परिणाम होता है वह कभी रुकता नहीं।

सृष्टिकाल में इन गुणों का परिणाम विषम अवस्था रूप में होता है अर्थात् समुदाय रूप से होता है। समुदाय = समुदाय का पर्यायवाची है । इसका अर्थ है। मिलकर उदय = आविर्भाव होना । समुदाय में एक बड़ा एक छोटा अवश्य होता है। इस बड़ाई–छोटाई को गुणप्रधान भाव कहते हैं। अतः सृष्टिकाल में गुणों का परिणाम न्यूनाधिक भाव से हुआ करता है । यह न्यूनाधिक भाव उपमर्दय–उपमर्दक-भाव धर्माधर्म के अनुसार होता है अतः गुणों का परिणाम दो प्रकार का है—समाकार या विषमाकार। समाकार परिणाम को 'त्रिगुणतः शब्द से कहा गया है। विषमाकार परिणाम 'समुदयात्' शब्द से कहा गया है । यह एक रूप वाले गुणों की प्रवृत्ति अनेक रूप में किस प्रकार होती है इसके लिये दृष्टान्त देते हैं—'परिणामतः सलिलवत्' जिस प्रकार वर्षा का जल बगीचों और खेतों में समान रूप से गिरता है, किन्तु बगीचों में आंवला चकोतरा नारंगी आदि भिन्न-भिन्न रसों में परिणत हो जाता है। खेतों में कटैली; बथुआ कचरी आदि भिन्न आकारों को धारण कर लेता है और उसका कारण है, 'प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेष'। प्रतिप्रतिगुण का अर्थ एकैक गुण है। एकैक का अर्थ अनेक है। अनेक गुणों के आश्रय जो पुरुष उनकी विशेषताओं से कर्मानुसार होने वाले भिन्न-भिन्न परिणामों को ये गुण धारण करते हैं।

भाष्यम्

अतश्च—अव्यक्तं प्रख्यातं कारणमस्ति, तस्मान्महदादि लिङ्गं प्रवर्वते। त्रिगुणतः = त्रिगुणात, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था-प्रधानम् । तथा-समुदयात्। यथा गंगास्रोतांसि त्रीणि रुद्रमूर्द्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति । यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति—त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते। यस्मादेकस्मात् प्रधानाद् व्यक्तं, तस्मादेकरूपेण भवितव्यम् । नैषः दोषः। परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् । एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ताः, मनुष्या दुःखेन, तिर्यञ्चो मोहेन। एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्तं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात परिणामतः सलिलवद्भवति । 'प्रतिप्रतीति' वीप्सा । गुणानामाश्री गुणाश्रयस्तद्विशेषः तं गुणाश्रयविशेषं प्रतिनिधाय प्रतिप्रति—गुणाश्रयविशेपपरिणामात् प्रवर्तते व्यक्तम् यथा—आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद्भिद्यते तत्तद्रसान्तरैः, एवमेकस्मात् प्रवृत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति। देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी

उदासीने, तेन तेऽत्यन्तसुखिनः। मनुष्येषु रज उत्कटं भवति, सत्त्वतमसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः। तिर्यक्षु तम उत्कट भवति, सत्त्वरजसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्तमूढाः ॥१६॥

अवतरणिका—जो लोग अव्यक्त को अथवा बुद्धि को या उनके कार्यों को आत्मा मानकर उनकी ही उपासना करते हैं। उनके इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए लिखते हैं— पुरुष सिद्धि।

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

[अन्वय—सङ्घातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययात्, अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च पुरुषः अस्ति।]

प्रकृति आदि से भिन्न एक आत्मा नाम का पदार्थ है, प्रकृति या उसके कार्य ही आत्मा नहीं है, क्योंकि संघात - समुदाय दूसरे के लिए होता है यदि एक संघात दूसरे के लिए हो तो यह संघात भी संघात होने से दूसरे के लिए होगा। इसलिए संघात जिसके लिए है। वह असंहत एक केवल और निर्गुण है। अतः त्रिगुणादि से विपरीत होने के कारण वह आत्मा निस्त्रैगुण्य है; क्योंकि त्रैगुण्य में भी संहतत्व रहता है। जहाँ संहतत्व न होगा, वहाँ त्रैगुण्य भी न होगा। अतः आत्मा त्रिगुणात्मक नहीं है। इसी प्रकार जो त्रिगुणात्मक होता है वह अधिष्ठाता होता है। अधिष्ठान को अधिष्ठाता की आवश्यकता होती है। वह अधिष्ठाता भी यदि त्रिगुणात्मक न होगा तो अधिष्ठाता न रहकर अधिष्ठान रह जायेगा। अतः वह अधिष्ठाता रूप पुरुष अधिष्ठान से भिन्न है। इसी प्रकार पुरुष में भोक्तृत्व रहता है, भोग्यत्व नहीं। भोग्य, बुद्धि आदि पदार्थ सुख-दुःख स्वरूप या अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप से अनुभूयमान प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात होते हैं वे सुख-दुःखात्मक के लिये ही नहीं होते, किन्तु जो सुख-दुःख स्वरूप से भिन्न है उसके लिए होते हैं और वह आत्मा है। अथवा बुद्धि आदि पदार्थ भोग्य या दृश्य कहलाते हैं। इनकी भोग्यता या दृश्यता बिना भोक्ता या द्रष्टा के नहीं बन सकती है। वह द्रष्टा दृश्य से अतिरिक्त है। वही आत्मा है। एवं कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति के लिए शास्त्र तथा ऋषि मुनियों का उपदेश रूप प्रवृत्ति होती

है। कैवल्य दुःखत्रय की सर्वथा शान्ति ही का नाम है। प्रकृति आदि रूप आ
दुःखादि रूप स्वरूप से कभी छूट नहीं सकता है अतः दुःख-शान्ति जहाँ हो
आत्मा प्रकृति से भिन्न ही माननी चाहिए। इस प्रकार आत्मा बुद्धि आदि
भिन्न है यह सिद्ध हुआ ॥१७॥

भाष्यम्

एवमार्याद्वयेन प्रधानस्याऽस्तित्वमवगम्यते । इतश्चोत्तरं पुरुषोऽस्तित्वप्र
पादनार्थमाह । यदुक्तं 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः प्राप्यत' इति, तत्र व्यक्त
दनन्तरमव्यक्तं पञ्चभि कारणैरधिगतं व्यक्तवत् पुरुषोऽपि सूक्ष्मस्तस्यानुमा
मितास्तित्वं प्रतिक्रियते । अस्ति पुरुषः कस्मात् ? सङ्घातपरार्थत्वाद् । यो
महदादिसङ्घातः स पुरुषार्थ इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात् पर्यङ्कवत् । यथाप
प्रत्येकं गात्रोत्पलपादपीठ—तूली-प्रच्छादन-पटोपधानसङ्घातः परार्थो न हि स्व
पर्यङ्कस्य; न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति । अतो
गम्यतेऽस्ति पुरुषो, यः पर्यङ्के शेते, यस्यार्थं पर्यङ्कस्तत्परार्थम् । इदं शरीरं पञ्च
महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यशरीरं भोग्यमह
सङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति । । इतश्चात्माऽस्ति — त्रिगुणादिविपर्ययात् । य
पूर्वस्यामार्यायां त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादि । तस्माद्विपर्ययात् । येनोक्तं
'यद्विपरीतस्तथा च पुमान्' । अधिष्ठानात् । यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैर
युंक्तो रथः सारथियाऽभिष्ठितः प्रवर्तते, तथात्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति । त
चोक्तं षष्टितन्त्रे — पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते' । अतोऽस्त्यात्मा,—भोक्तृभाव
यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायरसोपबृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते,
महदादिलिङ्गस्य भोक्तृत्वाऽभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमि
इतश्च, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च । केवलस्य भावः कैवल्यं, तन्निमित्त यतः
विद्वानविद्वाश्च संसारसतानक्षयमिच्छति । एवमेभिर्हेतुभिस्त्यात्मा शरीरव्य
रिक्तः ॥१७॥

———

अवतरणिका— इस प्रकार पुरुष की सत्ता सिद्ध करके तथा उसे बुद्धि आ
से व्यतिरिक्त बताकर वह पुरुष सब शरीरों में एक है या प्रत्येक शरीर में भि
है इस संशय के होने पर यह सिद्ध करते हैं कि—

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

[अन्वय—जन्ममरणकरणानाँ, प्रतिनियमात्, अयुगपत्यवृत्तेः च, त्रैगुण्यविपर्ययात् च, एव, पुरुषवहुत्वं, सिद्धम् ।]

आत्मा अनेक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का जन्म-मरण पृथक्-पृथक् काल में होता है। एवं प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। यह जन्म-मृत्यु और इन्द्रियाँ-भेद की व्यवस्था आदि सारे शरीरों में एक ही आत्मा हो तो नहीं वन सकती, तव एक के पैदा होने में सव जन्म लेंगे और एक के मृत्यु प्राप्त करने पर सब की मृत्यु होगी तथा एक के अन्धे होने पर सव अन्धे हो जायेंगे। यदि एक ही आत्मा में आत्मा का देह आदि उपाधि के कारण भेद माना जायेगा तो हाथ पैर, अंगुली एवं स्तन आदि रूप उपाधि के भेद से एक ही शरीर में हाथ के कट जाने पर आत्मा की मृत्यु, स्तनोत्पत्ति होने पर नवीन अवयव उपाधियुक्त आत्मा का जन्म मान लेना चाहिये। अतः सव शरीरों में एक आत्मा नहीं है इसी प्रकार सव शरीरों की एक दम प्रवृत्ति नहीं होती। यह प्रवृत्ति का पार्थक्य आत्मा की अनेकता सिद्ध करता है। इसी प्रकार तीनों गुणों का विपर्यय = न्यूनाधिक भाव अर्थात् कोई शरीर सत्त्वगुण के आधिक्य वाला, कोई रजोगुण प्रधान है। कोई तमोगुण की बहुलता रखता है। यदि सत्त्वगुण प्रधान देव सृष्टि, रजोगुण प्रधान मनुष्य सृष्टि एवं तमोगुण प्रधान पशु-पक्षी, कीट पतंग की सृष्टियों का आत्मा एक हो तो यह त्रैगुण्य भेद नहीं हो सकता; किन्तु है अतः आत्मा की अनेकता ही सिद्ध करता है। (एव शब्द का अन्वय सिद्धम् के वाद करना चाहिये) ॥१८॥

भाष्यम्

अथ सः किमेकः सर्वशरीरोऽधिष्ठाता मणिरसनात्मकसूत्रवत्, आहोस्विद् वहवः आत्मनः प्रतिशरीरमधिष्ठातार इति ? अत्रोच्यते—जन्म च मरणञ्च, करणानि च—**जन्ममरणकरणानि**, तेषां **प्रतिनियमात्** । प्रत्येकं नियमादित्यर्थः । यद्येक एव आत्मा स्यात्तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन्, एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य कारणवैकल्ये बाधिर्याऽन्धत्वमूकत्वकुणित्वखञ्जत्वलक्षणे सर्वेऽपि बाधिराऽन्ध मूक-कुणिखञ्जाः स्युः न चैवं भवति, तस्मात्—**जन्ममरणकरणानां**

प्रतिनियमात् सिद्धम् । इतश्चः—अयुगपत् प्रवृत्तेश्च युगपत् = एककालं, युगपद्-अयुगपत् प्रवर्तनम् । यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते, एक धर्मे प्रवृ अन्येऽधर्मे, वैराग्येऽन्ये, ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्माद् अयुगपत् प्रवृत्तेश्च—बहवः सिद्धम् । किञ्चान्यत्—त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव । त्रिगुणभावविपर्ययाच्च पुरुषब सिद्धम् । यथा सामान्ये जन्मनि एकः सात्त्विकः सुखी, अन्यो राजसो दुः अन्यस्तामसो मोहवान्, एवं त्रैगुण्यविपर्ययाद्बहुत्वं सिद्धमिति ॥१८॥

अवतरणिका — इस प्रकार आत्मा की अनेकता सिद्ध करने के बाद आ के विशेष गुणों का वर्णन करते हैं—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥

[अन्वय—तस्मात्, च, विपर्यासात्, अस्य, पुरुषस्य साक्षित्वं, माध्य द्रष्टृत्वम्, अकर्तृभावश्च, सिद्धम् ।]

आत्मा की अनेकता के साथ-साथ अर्थात् आत्मा में अनेकत्व गुण के गुण्य स्वरूप प्रकृति से विपरीतता भी दिखाई पड़ती है अर्थात् आत्मा नि गुण्य, विवेकी, अविषय, असाधारण, चेतन और अप्रसवधर्मी है । यह ग्यार कारिका में बता चुके हैं । अतएव अविषय होने के कारण वह साक्षी है । चे होने के कारण द्रष्टा है । अप्रसवधर्मी होने के कारण उदासीन केवल मध्यस्थ या 'असंग' है । इसी निस्त्रैगुण्य के कारण वह केवल सुख-दुःख रहित है । अतएव यह मध्यस्थ न सुख से सुखी होने वाला और न दुः दुःखी होने वाला है और उदासीन कहा जाता है ॥१९॥

भाष्यम्

'अकर्ता पुरुष' इत्येतदुच्यते – तस्माच्च विपर्यासात् । तस्माच्च यथो त्रैगुण्यविपर्यासाद्विपर्ययात्—निर्गुणः, पुरुषो, विवेकी, भोक्तेत्यादिगुणानां पुरु यो विपर्यास उक्तस्तस्मात् सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति तोऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति । गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्त नापि निवर्तत एव । किञ्चान्यत्, कैवल्यं = केवलभावः । कैवल्यम् अन्यत्व मित्यर्थः । त्रिगुणेभ्यः केवलः = अन्यः । माध्यस्थ्यं = मध्यस्थभावः । परिव्रा

वत् मध्यस्थः पुरुषः। यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते, तस्माद्—द्रष्टृत्व-मकर्तृभावश्च। यस्मान्मध्यस्थस्तस्माद् द्रष्टा, तस्मादकर्ता पुरुषस्तेषां कर्मणा-मिति, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते, न पुरुषः। एवं पुरुष-स्याऽस्तित्वं च सिद्धम् ॥१९॥

अवतरणिका—यहाँ यह कहा जा सकता है 'मैं' चेतन हूँ, मैं करना चाहता हूँ', 'मैं कर रहा हूँ' इन तीन अनुभवों में क्रम से ज्ञान, इच्छा, क्रिया इन तीनों का समानाधिकरण अनुभूत होता है। अतः पुरुष उदासीन है यह नहीं कहा जा सकता। इस शङ्का का समाधान करते हैं कि—पुरुषस्य कर्तृत्वम्!

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥

अन्वय—तस्मात्, तत्संयोगात्, अचेतनं, चेतनावद्, इव लिङ्गं, तथा गुणकर्तृत्वे, च, उदासीनः, कर्त्ता, इव, भवति।]

अचेतन बुद्धि चेतन मनुष्य के संयोग से चेतन-सी बन जाती है। अतः बुद्धि में केवल कर्तृत्व होने पर भी उसमें सचेतनता ही प्रतीत होती है यह प्रतीति भ्रान्तिरूप है। भ्रान्ति का कारण चेतन-संयोग है। अतएव बुद्धि के ही कर्ता होने पर भी उदासीन आत्मा में बुद्धि का कर्तृत्व धर्म प्रतीत होता है। अर्थात् बुद्धि और आत्मा में संयोग से परस्पर गुण-विनिमय हो जाता है। जिसके कारण ज्ञान, इच्छा और कृति का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है॥२०॥

भाष्यम्

यस्मादकर्ता पुरुषस्तत्, कथमध्यवसाय करोति—'धर्मं करिष्याम्यधर्मं न करिष्यामी'त्यतः कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुषः, एवमुभयथा दोषः स्यादिति।

लिखा भी है—चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते।
कर्तृत्वव्यवस्थितश्चात्मा भोक्ता कर्तेव लक्ष्यते॥
मुष्टिर्यथा विकीर्णः सूच्यग्रेसर्षपादीनाम्।
तिष्ठति न सूक्ष्म भावात् तद्वद् द्वन्द्वानि सर्वज्ञ॥

अत उच्यते-इह पुरुषश्चेतनावान्, तेन चेतनाऽवभाससंयुक्तं महदादि लिङ्ग चेतनावदिव भवति। यथा लोके घटः शीतसंयुक्तः शीतः, उष्णसंयुक्त उष्ण एव महदादि लिङ्गं तस्य संयोगात्=पुरुषसंयोगात्-चेतनावदिव भवति तस्माद् गुणा अध्यवसायं कुर्वन्ति न पुरुष। यद्यपि लोके 'पुरुषः कर्ता गन्तेत्यादि' प्रयुज्यते, तथाप्यकर्ता पुरुषः कथम्? गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तः भवत्युदासीनः। गुणानां कर्तृत्वे सति, (तथा=) उदासीनाऽपि पुरुषः कर्ता भवति न कर्ता। अत्र दृष्टान्तो भवति,—यथाऽचौरचौरैः स गृहीतश्चो इत्यवगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः, तैः संयुक्तः पुरुषोऽकर्ताऽपि कर्ता भवति, कर्तृसंयोगात्। एवं व्यक्ताऽव्यक्त ज्ञानां विभागो विख्यातः, यद्विभाग न्मोक्षप्राप्तिरिति ॥२०॥

अवतरणिका--संयोग से भ्रान्ति हो रही है, किन्तु दो भिन्न वस्तुओं का संयोग विना परस्पर आकांक्षा के नहीं हो सकता है। आकांक्षा पारस्परि उपकार्य-उपकारकभाव के विना नहीं हो सकती। अतः बुद्धि और पुरुष में संयोग का कारण आकांक्षा है, उसकी व्याख्या करते हैं।

> पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं[1] तथा प्रधानस्य।
> पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥

अन्वय—पुरुषस्य, दर्शनार्थं, तथा, प्रधानस्य, कैवल्यार्थं, पङ्गुवन्धव उभयोरपि, संयोगः, तत्कृतः, सर्गः।]

प्रधान प्रकृति के पुरुष द्वारा दर्शन के लिये अर्थात् प्रकृति की यह आकां है कि कोई मुझे देखे, अतः प्रकृति दृश्य है या भोग्य है। दृश्य या भोग्य व को दृश्य या भोग्य वनने के लिये किसी दृष्टा या भोक्ता की आवश्यकता हो है, वह द्रष्टा पुरुष है। इसी प्रकार पुरुष को स्वगत दुःखत्रय का अभिमान हो है। जिससे पीड़ित होकर वह कैवल्य की कामना करता है। कैवल्य प्रा प्रकृति और पुरुष के भेद ज्ञान (अन्यताख्याति) के विना नहीं हो सकती,

---

१.　　विना सर्गेण वन्धो हि पुरुषस्य न युज्यते।
　　सर्गस्तस्यैव मोक्षार्थमहो सांख्यस्य सूक्तता ॥

पुरुष को प्रधान की अपेक्षा रहती है। इन दोनों का संयोग पंगु और अन्धे के संयोग के समान है। पुरुष क्रिया रहित होने से पंगु है और प्रकृति सचेतन होने से अन्धा है। जिस प्रकार अन्धे के कन्धे पर चढ़कर पंगु अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त कर लेता है। प्रकृति पर आरूढ़ होकर पुरुष कैवल्य रूपी अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है। तथापि यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनों के संयोग होने पर भी महद् आदि की सृष्टि किस कारण से हुई ? इसका उत्तर यह है कि यह सृष्टि प्रकृति पुरुष के संयोग के कारण होती है। क्योंकि महद् आदि की सृष्टि के बिना भोग या कैवल्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः उक्त संयोग ही महद् आदि सृष्टि का कारण है ॥२१॥

भाष्यम्

अथैतयोः प्रधान-पुरुषयोः किं हेतुः सङ्घातः ? उच्यते - पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगे दर्शनार्थम्। प्रकृतिं, महदादि कार्यं भूतपर्यन्तं पुरुषः पश्यति,— एतदर्थं, प्रधानस्यापि पुरुषेण सह संयोगः—कैवल्यार्थम्। स च संयोगः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः। यथा एकः पुङ्गुरेकश्चान्धः, एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य स्तेनकृतादुपपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवादितश्चेतश्च चेरतुः। स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ। पुनस्तयोः स्ववचसोर्विश्वस्तत्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति। अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः, एवं शरीरारूढपङ्गुर्दर्शितेन मार्गेणाऽन्धो याति, पङ्गुश्चाऽन्धस्कन्धारूढः। एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति, पङ्गुवत् न क्रिया, प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवत्, न दर्शनशक्तिः। यथा वाऽनयोः पङ्ग्वन्धयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यतीप्सितस्थानप्राप्तयोः, एवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते, पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति। किञ्चान्यत्,— तत्कृतः सर्गः। तेन संयोगेन कृतस्तत्कृतः, सर्गः=सृष्टिः। यथा स्त्री पुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधान—पुरुषसंयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः ॥२१॥

———

अवतरणिका—सृष्टि का क्रम बतलाते हैं—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥

[अन्वय - प्रकृतेः, महान्, ततः अहङ्कारः, तस्मात्, षोडशकः, गणश्च, तस्मात्, अपि, षोडशकात्, पञ्चभ्यः, पञ्चभूतानि (भवन्ति) ।]

प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रायें और ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं । अर्थात् शब्द तन्मात्रा से शब्द गुण वाले आकाश की उत्पत्ति शब्द तन्मात्रा के सहित स्पर्श तन्मात्रा से शब्द स्पर्श वाली वायु की उत्पत्ति होती है । शब्द स्पर्श तन्मात्राओं के सहित रूप तन्मात्रा से शब्द, स्पर्श, गुण वाले तेजस् की उत्पत्ति होती है । शब्द स्पर्श रूप तन्मात्राओं के सहित रस तन्मात्रा से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण वाली पृथ्वी की उत्पत्ति होती है । वेदान्तशास्त्र में पंचीकरण प्रक्रिया की प्रधानता है और उस दृष्टि से पाँचों महाभूतों में पाँचों गुण रहते हैं, एवं प्रत्येक भूत का गुण विशेष रूप से रहता है । अतः उस नाम से उस भूत का व्यवहार किया जाता है । यह स्मरण रखना चाहिए कि नैय्यायिकों के मत में पंचमहाभूतों में एक-एक ही गुण रहता है, अन्य गुण नहीं रहते हैं । यदि कहीं अन्य गुण प्रतीत होता है तो वह औपाधिक है । उक्त सांख्य-सिद्धान्त उपनिषदों की सृष्टि क्रिया से सामञ्जस्य रखता है ।।२२।।

भाष्यम्

इदानीं सर्गविभागदर्शनार्थमाह–प्रकृतिः=प्रधानं ब्रह्म, अव्यक्तं, बहुधानकं, मायेति पर्यायाः । अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महान्- उत्पद्यते । महान्, बुद्धिः, आसुरी, मतिः, ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते । तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते । अहङ्कारो भूतादिर्वैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः । तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादहङ्कारात् षोडशकः=षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते । स यथा—पञ्चतन्मात्राणि=शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति—'तन्मात्र'–'सूक्ष्म'—पर्यायवाच्यानि । तत एकादशेन्द्रियाणि श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः जिह्वा, घ्राणमिति पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । उभयात्मकमेकादशं मनश्च । एष षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते । किञ्च—पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि । तस्मात् षोडशकाद् गणात् पंचभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पञ्च वै महाभूतान्युत्पद्यन्ते । यदुक्तं—

शब्दतन्त्रादाकाश, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रातेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्ध-तन्मात्रात् पृथिवी, एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः—पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यते ।२२।।

— ——

अवतरणिका—अव्यक्त का सामान्य लक्षण दसवीं कारिका में किया जा चुका। विशेष लक्षण ११ वीं कारिका में दिखा चुके। इसी प्रकार व्यक्तों का सामान्य स्वरूप भी दसवीं कारिका में दिखलाया जा चुका है। अब सर्वप्रथम व्यक्त पदार्थ का अर्थात् बुद्धि का विशेष स्वरूप दिखाते हैं; क्योंकि बुद्धि के स्वरूप का ज्ञान विवेक ज्ञान का कारण है:— बुद्धेर्लक्षणं धर्मं च

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।२३।।

[अन्वय—अध्यवसाय, बुद्धिः, धर्मः, ज्ञानं, विरागः, ऐश्वर्यं, एतत्, सात्त्विकं, रूपम्, अस्माद्, विपर्यस्तं, तामसम्।]

बुद्धि का स्वरूप 'अध्यवसाय' निश्चय है। यद्यपि बुद्धि रूपी कारक से अध्यवसाय रूपी कार्य उत्पन्न होता है। कार्य और कारण भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं, किन्तु यहाँ पर कार्य और कारण को एक मानकर अध्यवसाय को ही बुद्धि कहा गया है। इस बुद्धि में धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य नाम के चार सात्त्विक रूप रहते हैं। इनमें से वैराग्य (राग, द्वेष, ईर्ष्या, परोपकार, चिकीर्षा, असूया, अमर्ष ये ६ दोष चित्त को कलुषित कर देते हैं। इनमें से राग तथा ईर्ष्या कालुष्य को मैत्री से, द्वेष तथा अपचिकीर्षा को करुणा से तथा असूया और अमर्ष को मुदिता से एवं उपेक्षा से अमर्ष को दूर करे) १–यतमान संज्ञा, २–व्यतिरेक संज्ञा, ३–एकेन्द्रिय संज्ञा, ४- वशीकार संज्ञा के भेद से चार प्रकार का है। मेरे मन में रहने वाले दोष मेरी इन्द्रियों को कुमार्ग में न ले जाये, इस प्रकार का उद्योग करते रहना यतमान वैराग्य कहा जाता है। इस उद्योग को करते-करते कुछ मन पर काबू न पा सकेंगे तथा कुछ अधिकार जमा लेंगे। इन दोषों में किसने अधिकार जमाया अपरिपक्व होने से और कौनसा दोष परिपक्व होने के कारण अधिकार जमा सकने में असमर्थ रहा। इस भेद के निश्चय को व्यतिरेक वैराग्य कहते हैं। परिपक्व दोष जब केवल मन में ही

उथल-पुथल मचाते हैं; किन्तु इतना उग्र रूप नहीं धारण कर सकते कि वे इन्द्रियों को प्रवृत्त कर सकें इस अवस्था को एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं।

विषयों के सामने आने पर हृदय में किसी भी प्रकार की उत्सुकता का न होना वशीकरण वैराग्य कहलाता है। सत्त्व और पुरुष की अन्यताख्याति ज्ञान कहा जाता है। धर्म दो प्रकार का है एक अभ्युदय का कारण है, दूसरा अष्टांगयोग, अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाले मोक्ष का कारण है, ऐश्वर्यअणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व भेद से आठ प्रकार का है।

(१) अणिमा के कारण पुरुष शिला में भी प्रवेश कर सकता है। (२) लघिमा के कारण सूर्य की किरणों पर चढ़कर चल सकता है। (३) महिमा के कारण शरीर को एक दो मील लम्बा चौड़ा बना सकता है। (४) गरिमा-जिसके कारण अंगद के पैर के समान इतना भारी बन जाता कि हिलाया डुलाया नहीं जा सकता है। (५) प्राप्ति से जमीन पर बैठा २ अंगुली के द्वारा चन्द्र का स्पर्श करता है। (६) प्राकाम्य से इच्छा का विघात न होना है जिसके कारण पानी की तरह जमीन में भी गोते लगा सकता है। (७) ईशित्व के कारणभूत और भौतिक वस्तुओं को अधीन बना सकता है। (८) वशित्व के कारणभूत और भौतिक वस्तुओं को जैसा चाहे उस रूप में परिणत कर सकता है। कामावसायित्व अर्थात् सत्य संकल्प भी ईशित्व का भेद है, जिसके कारण जो सोचता है वही हो जाता है।[1] इन चार सात्त्विक धर्मों से विपरीत चार तामस धर्म भी होते हैं, जिन्हें अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य अनैश्वर्य कहते हैं। वे भी बुद्धि में रहते हैं ॥२३॥

भाष्यम्

यदुक्तं 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षं इति, तत्र महदादि भूतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्यक्तं व्याख्यातम्। अव्यक्तमपि 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादिना

---

१. लौकिकानां हि साधूनां अर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणाम् पुनराद्यानाम् वाचमर्थोऽनुधावति ॥

(भवभूति)

व्याख्यातम् । पुरुषोऽपि 'सङ्घातपरार्थत्वात्' इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः । एव-मेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि, यत्तैस्त्रैलोक्य व्याप्तं जानाति, तस्य भावोऽस्ति-त्वम् । यथोक्तं—

'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र-तत्राश्रमे चरतः ।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥"

तानि यथाः—प्रकृतिः, पुरुषो, बुद्धिरहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि, एकादशे-न्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि । एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ।

तत्रोक्तं 'प्रकृतेर्महानुत्पद्यते' तस्य महतः किं लक्षणमित्येतदाह—अध्यव-सायो बुद्धिलक्षणम् । अध्यवसानम्—अध्यवसायः । यथा बीजे भविष्यद्वृत्ति-कोहङ्कारस्तद्वदध्यवसायः—अयं घटः' 'अयं पटः' इत्येवमध्यवस्यति या—सा 'बुद्धि' रिति लक्ष्यते । सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका, सात्त्विक-तामसरूपभेदात् । तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति । धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यं चेति । तत्र धर्मो नाम—दयादानयमनियमलक्षणः । तत्र यमाः, नियमाश्च पातञ्जलेऽभि-रिहताः—'अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा - मयाः । 'शौचसन्तोषपःस्वा-ध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' ज्ञान, प्रकाशोऽवगमो भानमिति पर्यायाः । तच्च द्विविधं— वाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र वाह्यं नाम - वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरण-निरुक्तच्छन्दोज्यौतिषाख्यषडङ्गसहिताः, पुराणानि, न्यायमीसांसाधर्मशास्त्राणि शास्त्राणि चेति । आभ्यन्तरं—प्रकृतिपुरुषज्ञानम् । इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यवस्था, अयं पुरुषः सिद्धो, निर्गुणो व्यापी, चेतन इति । तत्रबाह्यज्ञानेन लोकपङ्क्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः । आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः । वैराग्य-मपि द्विविधं—वाह्यमाभ्यन्तरं च वाह्यं दृष्टविषयवैतृष्ण्यम्—अर्जन रक्षण-क्षय = मङ्ग—हिंसा—दोषदर्शनाद्विरक्तस्य आभ्यन्तरं 'प्रधानमप्यत्र स्वप्नेन्द्रजाल-सदृशं मिति विरक्तस्य मोक्षेप्सोर्यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम् । ऐश्वर्यम् = ईश्वरभावः । तच्चाष्टगुणम्—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्य-मीशित्वं, वशित्वं यत्र कामावसायित्वं चेति । अणोर्भावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति । महिमा— महान् भूत्वा विचरतीति । लघिमा—मृणाली-तूलावयवादपि लघुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति । प्राप्तिः—अभिमतं वस्तु

यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नोति । प्राकाम्यं—प्रकामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति । ईशित्वं—प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे । वशित्वं सर्वं वशीभवति । तत्रकामावसायित्वं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति । चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्त्वकानि रूपाणि । यदा सत्त्वेन रजस्तमसी, अभिभूते, तदा पुमान् बुद्धिगुणान् धर्मादीनाप्नोति । किञ्चान्यत्—तामसमस्माद्विपर्यस्तम् । अस्माद्धर्मादेर्विपरीतं तामसं बुद्धिरूपम् । तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्मः । एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति । एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्तादुत्पद्यते ॥२३॥

अवतरणिका - अहङ्कार का लक्षण करते है—

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥२४॥

[अन्वय—अभिमानः अहङ्कारः, तस्मात्, द्विविधः सर्गः, प्रवर्त्तते, एकादशकः, गणः, तन्मात्रः, पञ्चकश्च, एव ।]

अभिमान को अहङ्कार कहते हैं "जो वस्तु देखी है और जिसे मैंने समझा हो कि इसके उपयोग करने में मैं ही समर्थ हूँ । अन्य कोई जिसके उपयोग लेने का अधिकारी नहीं है, मैं ही एकमात्र अधिकारी हूँ ।" इस प्रकार के मानसिक व्यापार को अहङ्कार कहा जाता है । जिसके आधार पर बुद्धि यह निश्चय करती है कि 'मुझे यह काम करना ही चाहिये ।'

अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि होती है । जिनमें से एक तो ग्यारह इन्द्रियों की सृष्टि और दूसरी पाँच तन्मात्राओं की है ।।२४॥

भाष्यम्

एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम् । अहङ्कारलक्षणमुच्यते—एकादशकश्श गणः = एकादशेन्द्रियाणि, तथा तन्मात्रो गणः पञ्चकः = पञ्चलक्षणोपेतः । शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रसतन्मात्र-गन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः ।

अवतरणिका—अहङ्कार का स्वरूप एक है। उससे प्रकाश स्वरूप इन्द्रियों की और जडस्वरूप पंच तन्मात्राओं की विलक्षण सृष्टि कैसे हो सकती है, क्यों कि एक प्रकार की वस्तु से एक प्रकार की ही वस्तु उत्पन्न होनी चाहिये। इसका समाधान करते हैं—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्र तामसस्तैजसादुभयम् ॥२५॥

[अन्वय—वैकृतात्, अहङ्कारात्, सात्त्विकः, एकादशकः, प्रवर्त्तते, भूतादेः, तन्मात्रः स, तामसः, तेजसात् उभयम् ॥२५॥]

अहङ्कार में तीनों गुण रहते हैं "वैकृत = सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। एवं भूतादि तामस अहङ्कार से पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। यहाँ पर वैकृत और भूतादि पारिभाषिक शब्द हैं जिनका क्रम से सात्त्विक और तामस अर्थ होता है। यद्यपि अहङ्कार एक ही है तथापि गुणविशेषों के उद्‌भव और अभिभव के कारण उससे भिन्न कार्य उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में रजोगुण का कोई कार्य नहीं रह जाता, उसका कार्य केवल सत्त्वगुण और तमोगुण को प्रवृत्त करना है। अतः रजोगुण से दोनों तरह के कार्य परम्परया उत्पन्न होते हैं और वह दोनों का ही कारण है, भाव यह हुआ कि सत्व और तम नामक दो घोड़े और रजोगुण उनका सारथी है ॥२५॥

भाष्यम्

किं लक्षणात्सर्ग इत्येतदाह—सत्त्वेनाभिभूते यदा राजस्तमसी अहङ्कारे भवतस्तदा सोऽहङ्कार—सात्त्विकः। तस्य च पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता 'वैकृत' इति। तस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते। यस्मात् सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते—सात्त्विक एकादशक इति। किञ्चाऽन्यत् ? भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः'। तमसाभिभूते सत्त्वरजसी अहङ्कारे यदा भवतः, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यकृता संज्ञा 'भूतादिः'। तस्मात् भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्चको गण उत्पद्यते। भूतानामादिभूतस्तमोबहुलः तेनोक्तः स 'तामसः'। तस्माद् भूतादेः पञ्चतन्मात्रको गणः किञ्च—तैजसादुभयम्। यदा रजसाभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात् सोऽहङ्कार-

स्तैजस इति संज्ञां । लभते तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते । उभयमिति । एकादशको गणस्तन्मात्रः पञ्चकः । योऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो, वैकृतिको = विकृती भूत्वा, एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति, स तैजसमहङ्कारं सहाय गृह्णाति । सात्त्विको निष्क्रियः, स तैजसंयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः । तथा तामसोहङ्कारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहङ्कारेण क्रिय वता युक्तस्तनमात्रान्युत्पादयति । तेनोक्तं = तैजसादुभयमिति । एवं तैजसेनाऽहङ्कारेणेन्द्रियाण्येकादश, पञ्च तन्मात्राणि कृतानि भवन्ति ॥२५॥

अवतरणिका—ग्यारहवें सत्त्वगुण प्रधान मन का निरूपण करने के लिये दस वाह्य इन्द्रियों का परिगणन करते हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥

[अन्वय—चक्षु श्रोत्र घ्राण-रसन-स्पर्शनकानि, बुद्धीन्द्रिय णि, वाक्पाणिपादपायूपस्थान्, कर्मेन्द्रियाणि, आहुः]

चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा त्वचा नाम की पाँच इन्द्रियाँ हैं । वाणी, पाणि, चरण, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । इनको इन्द्रिय इसलिये कहते हैं; क्योंकि ये इन्द्र = आत्मा की प्रज्ञापक हैं । इन्द्र के साधनों को ही इन्द्रिय कहा जा सकता है । इनमें से कर्मेन्द्रियों का कार्य २८वीं कारिका में वतायेंगे । ज्ञानेन्द्रिय में चक्षुरिन्द्रिय रूप ग्रहण करने के कारण जानी जाती है । रसना इन सब इन्द्रियों में प्रधान इन्द्रिय है । यह आधार रूप में कर्मेन्द्रिय और शक्ति रूप में ज्ञानेन्द्रिय है ॥२६॥

भाष्यम्

'सात्त्विकएकादशक' इत्युक्तो यो वैकृतात् सात्त्विकादहङ्कारादुत्पद्यते, तस्य का संज्ञेत्याह,—चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते । स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनं = त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, तेनेदं पठ्यते—स्पर्शनकानीति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्च विषयान वुध्यन्ते अवगच्छन्तीति—पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः । कर्म कुर्वन्तीति-

कर्मेन्द्रियाणि । तत्र वाग्वदति, हस्तौ नाना व्यापारं कुरुतः, पादौ गमनाऽऽगमनं, पायुरुत्सर्गं करोति, उपस्थ आनन्दं—प्रजात्पत्त्या ॥२६॥

अवतरणिका—ग्यारहवीं इन्द्रिय को बतलाते हैं—

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥२७॥

[अन्वय—अत्र, मनः, उभयात्मकम्, सङ्कल्पकम्, इन्द्रियञ्च, साधर्म्यात्, गुणपरिणामविशेषात्, नानात्वं, बाह्यभेदाः, च ।]

मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों स्वरूप वाला है; क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय और वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ मन से अधिष्ठित होने पर ही अपने विषयों को ग्रहण करती हैं । मन का कार्य संकल्प करना है । जब इन्द्रिय किसी वस्तु को 'यह कुछ है' इस रूप से ग्रहण कर लेती है तदनन्तर 'यह इस प्रकार की है' और 'इस प्रकार की नहीं' यह विचार मन के द्वारा किया जाता है । यह कहा जा सकता है कि अहङ्कार और बुद्धि का भी एक विशेष कार्य है । यदि ये दोनों उन विशेष कार्यों के करने पर इन्द्रिय नहीं कहे जा सकते तो मन को ही इन्द्रिय क्यों माना जाये ? इसका समाधान करते हैं कि इन्द्रियञ्च अर्थात् मन इन्द्रिय है; क्योंकि इसका अन्य इन्द्रियों के साथ साधर्म्य=सादृश्य है । वह सादृश्य सात्त्विक अहङ्कार जन्यत्व स्वरूप है । इन्द्रियाँ सत्त्वगुण प्रधान अहङ्कार से जिस प्रकार उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार मन भी सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होता है । यहाँ 'इन्द्र का लिङ्ग होना' यह सादृश्य नहीं लेना चाहिये; क्योंकि यह साधर्म्य महत् और अहङ्कार में भी रहता है । अतः इन्द्र लिङ्गत्व केवल व्युत्पत्ति गम्य अर्थ है, प्रवृत्ति निमित्त नहीं, एक सात्त्विक अहङ्कार से भिन्न-भिन्न प्रकार की ग्यारह इन्द्रियाँ गुणों के परिणाम विशेष से बन जाती हैं । अर्थात् धर्माधर्म विशेष के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की इन्द्रियाँ जन्म ग्रहण कर लेती हैं, जैसे तमोगुण प्रधान अहङ्कार से बाह्य=इन्द्रियों की अपेक्षा से भिन्न शब्द तन्मात्रायें तथा जैसे एक ही वृक्ष से फल, पत्ते और गोंद आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुयें उत्पन्न हो जाती हैं । इसी प्रकार एक सात्त्विक अहङ्कार से अनेक इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं । इस कारिका में आये 'चकार' का अर्थ 'इव' है तथा उसी के अनुसार अर्थ किया गया है ॥२७॥

भाष्यम्

एवं बुद्धीनिन्द्रय-कर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि। मन एकादशकं किमात्मकं, किंस्वरूपं चेति ? तदुच्यते—अत्र—इन्द्रियवर्गे मन उभयात्मकम्। बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत् कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत् कस्माद् ? बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्ति कल्पयति, कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः। सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम्। किञ्चान्यत् इन्द्रियं च, साधर्म्यात् = समानधर्मभावात् सात्त्विकाहङ्काराद्। बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्यं प्रति, तस्मात् साधर्म्यान्मनोऽपीन्द्रियम्। एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाद्वैकृतादहङ्कारादुत्पन्नानि। तत्र मनसः का वृत्तिरिति ? सङ्कल्पो—वृत्तिः। बुद्धीन्द्रियाणां—शब्दादयो वृत्तय, कर्मेन्द्रियाणां—वचनादयः।

अथैतानीन्द्रियाणि भिन्नानि = भिन्नार्थग्राहकाणि—किमीश्वरेण, उत स्वभावेन कृतानि ? यतः प्रधानबुद्ध्यहङ्कार अचेतनाः पुरुषोऽप्यकर्तेति। अत्राह इह साङ्ख्यानां स्वभावो नाम कश्चित्कारणमस्ति। अत्रोच्यते—गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च। इमान्येकादशेन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां, सङ्कल्पश्चमनसः। एवमेते भिन्नामेवेन्द्रियाणायर्थाः गुणपरिणामविशेषात्। गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं, बाह्यार्थभेदाश्च। अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण नाऽहङ्कारेण, न बुद्ध्या न प्रधानेन, न पुरुषेण। (किन्तु) स्वभावात् कृतगुणपरिणामेनेति। गुणानामचेतनत्वान्न प्रवर्त्तते ?। प्रवर्तत एव। कथम् ? वक्ष्यतीहैव—'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥' एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, विशेषोऽपि तत्कृत एव येनाच्चैः प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितं, तथा घ्राणं, तथा श्रोत्रं, तथा जिह्वा स्वदेशे स्वार्थग्रहणाय। एवं तदर्था अपि। यत् उक्तं शास्त्रान्तरे—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'। गुणानां या वृत्तिः सा गुणविषया एवेति ग्राह्यार्था—विज्ञेया गुणकृता एवेत्यर्थः। प्रधानं यस्य कारणमिति ॥२७॥

—इन्द्रियाणां वृत्तयः

अवतरणिका—अब इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न कार्यों को बतलाते हैं—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥

[अन्वय—रूपादिषु, पञ्चानाम्, आलोचनमात्रं, वृत्तिः, इष्यते, पञ्चानां, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च ।]

पाँच ज्ञानेन्द्रियों का रस आदि विषयों में केवल आलोचन रूप (वस्तु दर्शनमात्र व्यापार होता है । तथा पाँच कर्मेन्द्रियों का क्रम से वचन, ग्रहण, गमन, मल-त्याग और आनन्द नाम का व्यापार माना जाता है ॥२८॥

भाष्यम्

अथेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरिति ? । उच्यते । 'मात्र' शब्दो विशेषार्थोऽविशेषव्यावृत्त्यर्थो, यथा 'भिक्षामात्रं लभ्यते' । नान्यो विशेष इति । तथा चक्षुःरूपमात्रे, न रसादिषु । एवं शेषाण्यपि । तद्यथा—चक्षुषो-रूप, जिह्वाया-रसः घ्राणस्य—गन्धः, श्रोत्रस्य—शब्दः त्वचः—स्पर्शः । एवमेषां बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः कथिता । कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते—वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् । कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः । वाचो-वचनं हस्तयोरादानं पादयोर्विहरणं, पायोभक्तस्याऽऽहारस्य परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्य-आनन्दः=सुतोपत्तिविषया वृत्तिरिति सम्बन्धः ॥२८॥

———

अवतरणिका—तीनों अन्तःकरणों के व्यापार बतलाते हैं— अन्तःकरणवृत्तिः द्विविधा ।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥२९॥

[अन्वय—स्वालक्षण्यं, त्रयस्य, वृत्ति. सा, एषा, असामान्या, भवति, प्राणाद्याः, पञ्च, वायवः, सामान्यकरणवृत्तिः ।]

स्व = अपना असाधारण स्वरूप ही लक्षण है जिनका वे महत् अहङ्कार और मन स्वलक्षण कहे जाते हैं । स्वलक्षण शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय करने पर स्वालक्षण्य बनता है । अर्थात् बुद्धि का यदि स्वरूप विवेचन किया जाये तो वह स्वरूप विवेचन ही असाधारण लक्षण है और वही

बुद्धि की वृत्ति व्यापार है। भाव यह निकला कि बुद्धि से अध्यवसाय या निश्चय किया जाता है यही बुद्धि का विशेष रूप है। एवं निश्चय करना ही बुद्धि का व्यापार है। इस प्रकार अहंकार का अभिमान व्यापार है। मन का संकल्प करना व्यापार है। यह व्यापार इन तीनों का अपना विशेष या असामान्य, असाधारण व्यापार है तथा इन तीनों अन्त:करणों का एक साधारण व्यापार भी होता है। यह व्यापार प्राणन, अपानन, व्यनन, समनन, उदनन इत्यादि पाँच नामों वाला कहा जाता है। भाव यह है कि सांख्य-मत में प्राण आदि पचक कोई भिन्न पदार्थ नहीं किन्तु अन्तःकरणवर्ती एक सर्वसाधारण व्यापार है, क्योंकि अन्तःकरणों के होने पर उक्त व्यापार होता है; जैसे एक जाल में बँधे हुए पक्षी एक साथ वेग से उड़ने का व्यापार करके उस जाल को उड़ा ले जाते हैं, वैसे ही इस शरीर के धारण रूपी जीवन व्यापार को तीनों अन्तःकरण मिलकर करते हैं। यह इन तीनों का साधारण व्यापार है और तीनों में समान रूप से रहता है। इस ही तत्त्व को कपिल मुनि ने त्रयाणाम् स्वालक्षण्यं (सांख्य-सूत्र अध्याय २ सूत्र ३०) द्वारा प्रकट किया है। नैयायिक और वेदान्ती शरीर में रहने वाली वायु को प्राणादि नाम देते हैं। किन्तु सांख्य-मत में यह वायु अन्तःकरण की क्रिया विशेष है। यह क्रिया वायु से विशेष प्रगति प्राप्त करती है। यह दूसरी वात है ॥२६॥

भाष्यम्

अधुना बुद्ध्यहङ्कारमनसामुच्यते,—स्वलक्षणस्वभावा—स्वालक्षण्या। 'अध्यवसायो वुद्धि' रितिलक्षणमुक्तं', सैव बुद्धिवृत्तिः। तथा'ऽभिमानोऽहङ्कार' इत्यभियानलक्षणोऽभिमानवृत्तिश्च। 'सङ्कल्पकं मन' इति लक्षणमुतं, तेन सङ्कल्प एव मनसो वृत्तिः। त्रयस्यं=बुद्ध्यहङ्कारमनसां स्वालक्षण्या वृत्ति.=असामान्या या प्रागभिहिता। बुद्धीन्द्रियाणां च वृत्तिः साऽप्यसामान्यैवेति। इदानीं वृत्ति-र्व्यायते—सामान्यकरणवृत्तिः। सामान्येन करणानां वृत्तिः · प्राणाद्याः वायवः पञ्च। प्राणाऽपानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायवः=सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः। यत प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं कर्म तत् त्रयोदशविधस्याऽपि सामान्या वृत्तिः, सति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ

इति । प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं करोतीति । प्रणिनात्—'प्राण इत्युच्यते ।' तथाऽपनयनादपानः । तत्र यत् स्पन्दनं तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य । तथा समानो मध्यदेशवर्ती य आहारादीनां समं नयनात् समानो वायुः तत्र यत् स्पन्दनं तत्—सामान्यकरणवृत्तिः । तथा ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशमस्तकान्तर्गोचरः । तत्रोदाने यत् स्पन्दन तत् सर्वेन्द्रिय णां सामान्या वृत्तिः । किञ्च शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवद्व्यानः । तत्र यत् स्पन्दनं तत् करणजालस्य—सामान्या वृत्तिरिति । एवमेतै पञ्च वायवः,=सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याताः । त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्या वृत्तिरित्यर्थः ॥२९॥

———

अवतरणिका—तीन अन्तःकरण और दस बाह्यकरण' इस प्रकार इन चार प्रकार के करणों का असाधारण व्यापार युगपत् और पौर्वापरिभाव दोनों प्रकार से हुआ करता है । कब क्रम से होता है और कब पौर्वापरिभाव से होता है यह बतलाते है—

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च यस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

[अन्वय—दृष्टे, चतुष्टयस्य, तु वृत्तिः, युगपत्, तस्य, क्रमशश्च, निर्दिष्टा, तथापि, अदृष्टे, तु त्रयस्य, तत्पूर्विका, वृत्तिः ।]

तीन प्रकार के अन्तःकरण और दस प्रकार से बाह्यकरण इन चारों करणों का व्यापार दृष्ट=चक्षुरादि गोचर पदार्थों में तब एक साथ होता है जब कि हम घोर अन्धकार वाले जंगल में चले जा रहे हों । अकस्मात् बादलों के आने पर बिजली चमके और उस चमक में हमें तीन गज की दूरी पर सामने शेर या साँप दिखाई पड़े । उस अवस्था में चक्षु का आलोचन, मन का संकल्प, अहंकार का अभिमान, बुद्धि का अध्यवसाय रूपी एक साथ हो जाता है । जिससे 'मैं शेर को ही देख रहा हूँ इस प्रकार से चारों करणों का व्यापार युगपत् होता है, इसलिये जाने वाला कूद कर पीछे हट जाता है तथा जब मन्द अन्धकार में

चक्षु अपना व्यापार करते हैं तो गोल या लम्बी वस्तु "यह कुछ है" इस रूप में दिखाई पड़ती है। संकल्प विकल्प करने पर शेर है या साँप है, अन्य नहीं ऐसा जो ज्ञान करता है वह मन है। तदनन्तर यह मेरी तरफ आ रहा है और काटेगा ऐसा अभिमान करता है। तदनन्तर यहाँ से हट जाना चाहिये, यह अध्यवसाय करता है। इस प्रकार प्रत्यक्षगोचर पदार्थों में युगपन् अथवा क्रमशः वृत्तियां हुआ करती हैं। परोक्ष या अप्रत्यक्ष पदार्थों में वाह्येन्द्रियों का व्यापार असम्भव है। अतः अदृष्ट परोक्ष विषय में अन्तःकरणत्रय की युगपत् और क्रमशः वृत्ति होती है। वह प्रत्यक्ष पूर्वक होती है। अर्थात् अनुमान स्मृति आदि परोक्ष विषय में हुआ करती है। वह लिंगादि के प्रत्यक्ष विना नहीं हो सकती। अतः यदि लिंगादि का प्रत्यक्ष दर्शन युगपत् हो तो अनुमान युगपत् होगा। यदि लिंगादि का दर्शन क्रमशः हो तो अनुमानजन्य ज्ञान क्रमशः होगा। इसलिये जैसे दृष्ट-विषय में क्रमाक्रम भाव रहते हैं, वैसे ही अदृष्ट विषय में हुआ करते हैं। यहाँ 'तथाप्यदृष्टे' इस वाक्य में आये 'अपि' शब्द का अदृष्टे के वाद 'अदृष्टेऽपि' इस रूप में अन्वय होता है ॥३०॥

भाष्यम्

युगपच्चतुष्टयस्य । बुद्धयहङ्कारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति। चतुष्टयस्य दृष्टे=प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद्वृत्तिः। बुद्धयहङ्कारमनश्चक्षूंषि—युगपदेककाल रूपं पश्यन्ति—'स्थाणुरय'मिति। बुद्धयहङ्कार-मनोजिह्वा—युगपद्रसं गृह्णन्ति। बुद्धय-हङ्कार-मनो-घ्राणानि—युगपद गन्धं गृह्णन्ति। तथा त्वक्श्रोत्रे अपि। किञ्च '**क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा**'। तस्येति=चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वृत्तिर्भवति। तथा कश्चित् पथि गच्छन् दूर देव द्रष्ट्वा 'स्थाणुरयं', पुरुषो वे'ति संशये सति, तत्रोपरूढं तल्लिङ्गं पश्यति, शकुनि वा ततस्तस्य मनसा सङ्कल्पिते संशये व्यवच्छेदभूता बुद्धिर्भवति – 'स्थाणुस्य' मिति। अतो अहङ्कारश्च निश्चयार्थः 'स्थाणुरेवे'ति। एवं बुद्धयहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा। यथा रूपे तथा शब्दादिष्वपि वोद्धव्या। दृष्टे=दृष्टविषये। किञ्चान्यत्? । तथाऽप्यदृष्टत्रयस्य—तत्पूर्विका वृत्तिः। अदृष्टे अनागतेऽतीते च काले बुद्धयहङ्कारमनसां रूपे चक्षुःपूर्विका त्रयस्य वृत्तिः। स्पर्शे=त्वक्पूर्विका।

गन्धे घ्राणपूर्विका। रसेरपूर्विका। शब्दे श्रवणपूर्विका, बुद्ध्यहङ्कारमनसामनागते =भविष्यति कालेऽतीते च तत्पूर्विका—क्रमशो वृत्तिः। वर्तमाने युगपत्, क्रमशश्चेति ॥३०॥

अवतरणिका—यदि तीनों अन्तःकरणों से ही वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, तो वे सर्वथा उत्पन्न होनी चाहियें, क्योंकि ये अन्तःकरण में सदा विद्यमान रहते हैं। यदि इसका समाधान यह किया जाये कि विषयों के सम्मुख आने पर अन्तःकरण आदि की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि विषयों का सान्निध्य वृत्तियों का उत्पादक है और विषयों का असान्निध्य वृत्तियों का अनुत्पादक है, तो भी वृत्तियों के उत्पन्न होने का कोई कारण निर्दिष्ट नहीं किया गया है, अतः वृत्ति निर्हेतुक =आकस्मिक होती हैं, यह मानना पड़ जायेगा। क्योंकि विषय के सामने आने पर अन्तःकरण की वृत्ति किस कारण से उत्पन्न हुई वह कारण नहीं बताया गया है। यदि बिना कारण के वृत्तियाँ हुआ करेंगी, तो कभी चक्षु से शब्दाकार वृत्ति उत्पन्न होने लगेगी, श्रोत से दर्शनाकार वृत्ति होने लगेगी। इस प्रकार इन्द्रियों की वृत्ति में परस्पर सांकर्य और अनियमता आ जायेगी। इस शंका का समाधान करने के लिये कहते हैं कि—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥३१॥

[अन्वय—परस्पराकूतहेतुकां, स्वां, स्वां, वृत्तिं, प्रतिपद्यन्ते, (अत्र) पुरुषार्थ, एव, हेतुः, करणं, न केनचित्, कार्यते।]

जिस प्रकार शत्रु का हमला होने पर और उसे परास्त करने के लिये सेनापति की आज्ञा मिलने पर, बन्दूक वाला, बन्दूक लेकर दौड़ता है, तलवार वाला तलवार, पिस्तौल वाला पिस्तौल एवं घुड़सवार घोड़े पर चढ़कर दौड़ता है, रथी रथ पर। यह नहीं होता कि घुड़सवार हाथी पर सवार होकर चले, तलवार चलाने वाला बन्दूक चलाये। ठीक इसी प्रकार एक इन्द्रिय के अपने कार्य में व्याप्त होने पर, दूसरी इन्द्रिय भी अपना ही काम करती है। यह नहीं कि आँख सूँघने का और कान देखने का कार्य करने लगें। यहाँ यह शङ्का

उठती है कि तलवार चलाने वाला चेतन है, इन्द्रिय चेतन नहीं। इसलिये यह दृष्टान्त असङ्गत है। अतएव इन इन्द्रियों का कोई प्रेरक अवश्य होना चाहिये। इसका समाधान करते हैं कि इस प्रवृत्ति का कारण पुरुषार्थ धर्माधर्म ही है। इन्द्रियाँ किसी अन्य शक्ति के द्वारा प्रवर्तित नहीं की जातीं। यहाँ 'प्रतिपद्यन्ते' इस क्रिया का कर्ता करणानि' का अध्याहार करना चाहिये ॥३१॥

भाष्यम्

किञ्च—स्वां—स्वामिति वीप्सा। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि स्वां-स्वां वृत्तिं परस्पराकूतहेतुकाम्। 'आकूतमादरसम्भ्रमः' इति। प्रतिपद्यन्ते = पुरुषार्थकरणाय बुद्ध्यहङ्कारादयः। बुद्धिरहङ्काराकूत ज्ञात्वा स्वविषयं प्रतिपद्यते। किमर्थमिति चेत्?। पुरुषार्थ एव हेतुः। 'पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इत्येवमर्थं गुणानां प्रवृत्तिः। तस्मादेतानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति। यद्यचेतनानीति, कथं स्वयं प्रवर्तन्ते? न केनचित् कार्यते करणम्। पुरुषार्थ एवैकः कारयतीति वाक्यार्थः। न केनचित्-ईश्वरेण, पुरुषेण वा, कार्यते = प्रबोध्यते करणम् ॥३१॥

———

अवतरणिका—इन्द्रियों की प्रवृत्ति अन्य किसी के द्वारा नहीं होती, यह कह चुके हैं। अब करणों के प्रकारों का निरूपण करते हैं—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधाहार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥३२॥

[**अन्वय**—करणं, त्रयोदशविधं, तद्, आहरण–धारण-प्रकाशकरम्, तस्य, कार्यं, च, दशधा, आहार्यं धार्यं, प्रकाश्यञ्च।]

कारक विशेष को करण कहते हैं, कारक वही होता है जो क्रिया = व्यापार करे। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों का व्यापार आहरण हैं, एवं ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार प्रकाशन है तथा बुद्धि अहङ्कार और मन इन तीनों अन्तःकरणों का व्यापार प्राणन, अपानन आदि के द्वारा शरीर व इन्द्रियों का धारण करना है। इन तेरह प्रकार की इन्द्रियों का कार्य दस प्रकार का होता है और वह (कार्य) आहार्य = अर्थात् विशेषतया प्राप्ति करना या ग्रहण करना) होता है। अतः

कर्मेन्द्रियों में वाणी वचन क्रिया को, हाथ ग्रहण क्रिया को, चरण विहरण क्रिया को, शौचेन्द्रिय उत्सर्जन क्रिया को, मूत्रेन्द्रिय आनन्द क्रिया को व्याप्त करती हैं। ये कार्य दिव्य और अदिव्य भेद से दो प्रकार के हैं। तीनों अन्तःकरण प्राणादि वृत्ति के द्वारा इस पञ्चभौतिक शरीर को धारण करते हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यह शरीर पार्थिव है और इसमें पाँचों तत्त्वों का सम्मिश्रण है। अतः यह शरीर भी दिव्य और अदिव्य भेद से दस प्रकार का होता है। एवं ज्ञानेन्द्रियों का प्रकाशन रूपी कार्य स्पष्ट है। वे भी शब्द, स्पर्श आदि पाँच गुणों को ग्रहण करती हैं और शब्दादि पाँचों दिव्य अदिव्य भेद वाले हैं। इस प्रकार आहार्य, प्रकाश्य, और धार्य कार्य भी दस प्रकार का होता है ॥३२॥

भाष्यम्

बुद्ध्यादि कतिविधं तदित्युच्यते—करणं महदादि, त्रयोदशविधबोद्धव्यम्। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि—चक्षुरादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि–वागादीनीति–त्रयोदशविधं करणम्। तत् किं करोतीत्येतदाह—तदाहरणधारणप्रकाशकरम्'। तत्राऽऽहरणं धारणं च=कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति। प्रकाशं=बुद्धीन्द्रियाणि। कतिविधं कार्यं तस्येति ? तदुच्यते—कार्यं च तस्य दशधा। तस्य=करणस्य, कार्यं=कर्त्तव्यमिति। दशधा=दशप्रकारम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यमेतद्दशविधं कार्यं। बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति, धारयन्ति चेति ॥३२॥

अवतरणिका—उक्त तेरह प्रकार के अन्तःकरणों का अवान्तर विभाग निम्नलिखित कारिका से प्रदर्शित करते हैं—

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥

[अन्वय—अन्तःकरणं, त्रिविधं, बाह्यं, दशधा, त्रयस्य, विषयाख्यं, बाह्यं साम्प्रतकाल, आभ्यन्तरं करणं, त्रिकालम् ॥३-॥]

तीन प्रकार के करण आभ्यन्तरिक हैं, अतः उन्हें अन्तःकरण कहते हैं। उन अन्तःकरणों के बाह्य दस करण विषयाख्य=विषय का आख्य कथन

करने वाले हैं। अर्थात् अन्तःकरण के द्वारा जो विषयों के विषय में सङ्कल्प, अभिमान और अध्यवसाय किये जाते हैं, उनके करने में वाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ और वाह्य कर्मेन्द्रियाँ अपने द्वारा उक्त तीनों अन्तःकरणों का विषय से सम्बन्ध कराती हैं। वाह्यकरण केवल साम्प्रतकाल वर्तमानकाल को ही विषय करते हैं। अर्थात् वर्तमान पदार्थों का ही ज्ञान कराते हैं तथा आभ्यन्तकरण भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की विषय करते हैं। जैसे नदी का गदला जल देखकर वर्षा हो चुकी है, यह भूत विषय ज्ञान किया जाता है। धूमलेखा को देखकर पर्वत-गत वर्तमानकालिक वह्नि का अनुमान किया जाता है तथा बिल में से अकस्मात् अण्डों को लेकर निकलती हुई चीटियों को देखकर भविष्यत् काल में होने वाली वर्षा का अनुमान किया जाता है, एवं तदनुकूल सङ्कल्प, अभिमान और अध्यव-साय किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तःकरण तीनों कालों को विषय करता है ॥३३॥

भाष्यम्

किञ्च = अन्तःकरणमिति—बुद्धयहङ्कारमनांसि। त्रिविधं महदादिभेदात्। दशधा बाह्यं च। बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, दशविधमेतत् करण बाह्यम्। तत्रस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं = बुद्धयहङ्कारमनसां भोग्यम्। साम्प्रत-कालं। श्रोत्रं—वर्त्तमानमेव शब्दं शृणोति नाऽतीतं न च भविष्यन्तम्। चक्षुरपि वर्तमानं रूपं पश्यति, नाऽतीतं, नाऽनागतम्। त्वग्वर्त्तमानं स्पर्शम्। जिह्वा वर्त्त-मानं रसं। नासिका-वर्त्तमानं गन्धं नाऽतीताऽनागतं चेति। एवं कर्मेन्द्रियाणि। वाग्वर्त्तमानं शब्दमुच्चारयति, नाऽतीतमनागतम्। पाणी वर्त्तमानं घटमाददाते। नातीतमनागतं च। पादौ वर्त्तमानं पन्थानं विहरतो, नाऽतीतं, नाप्यनागतम्। पायूपस्थौ च वर्त्तमानावुत्सर्गानन्दौ कुरुतो, नाऽतीतौ, नाऽनागतौ। एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालमुक्तम्। त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्। बुद्धयहङ्कारमनांसि—त्रिकालविषयाणि। बुद्धिर्वर्त्तमानं घटं बुध्यते, अतीतमनागतं चेति। अहङ्कारो वर्त्तमानेऽभिमानं करोत्यतीतेऽनागते च। तथा मनो वर्त्तमाने सङ्कल्पं कुरुतेऽतीते-ऽनागते च। एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति ॥३३॥

अवतरणिका —वर्तमान काल को विषय करने वाली बाह्य इन्द्रियों के विषयों का निर्देश करते हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

[**अन्वय**—तेषां, पञ्च, बुद्धीन्द्रियाणि, विशेषाविशेषविषयाणि, वाक्, शब्द-विषया, भवति, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ।]

उन दस प्रकार की इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष स्थूल, रूप, रस, गन्ध आदि पाँच विषयों को ग्रहण करती हैं तथा शान्त=सत्त्व प्रधान, घोर= रजोगुण प्रधान, मूढ=तमोगुण प्रधान अर्थात् त्रिगुणात्मक पृथ्वी आदि पंचमहा-भूतों को भी विषय करती हैं । इसी प्रकार ये ज्ञानेन्द्रियाँ अविशेष=तन्मात्राओं अर्थात् शब्द तन्मात्रा, रस तन्मात्रा आदि पंच तन्मात्राओं को विषय करती हैं । वहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि योगी महात्माओं की इन्द्रियाँ ही तन्मात्राओं को ग्रहण कर सकती हैं, साधारण पुरुषों की नहीं । इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों में से वाक् इन्द्रिय केवल स्थूल शब्दों को ग्रहण करती हैं । शब्द तन्मात्रा को विषय नहीं कर सकतीं; क्योंकि वाक् और शब्द तन्मात्रा दोनों ही अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं । वाणी को छोड़कर शेष चारों कर्मेन्द्रियाँ पंचमहाभूतों से उत्पन्न वृक्ष घटादि का ग्रहण करती हैं, क्योंकि घटादि शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध समुदाय स्वरूप हैं । यही वाणी और अन्य चार कर्मेन्द्रियों की विशेषता है ॥३४॥

भाष्यम्

इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेषविषयं गृह्णन्ति, कानि निर्विशेषमिति ? । तदुच्यते—**बुद्धीन्द्रियाणि तेषां**—सविशेषं निर्विशेषं च विषयं गृह्णन्ति । सविशेष-विषयं मानुषाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषययुक्तान् बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति । देवानां निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति । तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये **वाग्भवति शब्दविषया** । देवानां, मानुषाणां च वाग्वदति, श्लोकादीनुच्चारयति तस्माद्देवानां, मानुषाणां च वागिन्द्रियं तुल्यम् । **शेषाण्यपि** वाग्व्यतिरिक्तानि पाणिपादपायूपस्थसंज्ञितानि **पञ्चविषयाणि** । पञ्चविषया शब्दादयो तेषां तानि

पञ्चविषयाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणौ सन्ति। पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि पादो विहरति। पादिस्वन्द्रियं पञ्चक्लृप्तमुत्सर्गं करोति। तथोपस्थेन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमानन्दयति ॥३४॥

अवतरणिका—इन तेरह प्रकार के करणों में कुछ इन्द्रियाँ गौण हैं, तो कुछ मुख्य हैं। इस भेद के कारण की विवेचना करते हैं—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि। ३५॥

[अन्वय—यस्मात्, सान्तःकरणा बुद्धिः, सर्वं विषयम्, अवगाहते, तस्मात्, त्रिविधं, करणं, द्वारि, शेषाणि, द्वाराणि।

बुद्धि नाम का अन्तःकरण, मन और अहङ्कार के सहित बाह्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत प्रत्येक विषय को ग्रहण करता है। इसलिये तीनों अन्तःकरण द्वारि= प्रधान इन्द्रियाँ कहलाती हैं शेष=ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ द्वार=गौण इन्द्रियाँ कहलाती हैं ॥३५॥

भाष्यम्

सान्तःकरणा बुद्धिः। अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः। यस्मात् सर्वविषयमवगाहते =गृह्णाति। त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति। तस्मात्—त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि। 'करणानी'ति वाक्यशेषः ॥३५॥

अवतरणिका—बुद्धि बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा ही मुख्य नहीं कहलाती किन्तु अहङ्कार और मन से भी मुख्य कही जाती है, क्योंकि अहङ्कार और मन अध्यवसाय के द्वार हैं और बुद्धि द्वार (व्यापार) वाली है। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥

[अन्वय—एते, गुणविशेषाः, प्रदीपकल्पाः, परस्परविलक्षणाः, कृत्स्नं, अर्थं, पुरुषस्य, प्रकाश्य, बुद्धौ, प्रयच्छन्ति ।]

ये तीनों गुण तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और अहङ्कार परस्पर स्वभाव में विरोधी हैं, जैसे वत्ती, तेल और आग तीनों परस्पर विरोधी हैं; किन्तु दीपक में मिलकर वे अन्धकार को दूर करने का कार्य प्रकाश के द्वारा करते हैं, उसी तरह ये तीनों गुण भोग और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ-दीपक में एकत्रित होकर सुख दुःखादि का भोग पुरुष को कराते हैं, जिसका ढङ्ग यह होता है कि जैसे एक पटवारी (ग्रामाध्यक्ष) ग्राम-निवासी परिवारों से कर इकट्ठा करके तहसीलदार (विषयाध्यक्ष) के यहाँ जमा कर देता है और विषयाध्यक्ष कलक्टर या कमिश्नर (सर्वाध्यक्ष) के पास उस अर्थ राशि को पहुँचाता है, उसी तरह बाह्य इन्द्रियाँ विषयों को मन के लिये सौंपती हैं। मन अहङ्कार को सौंपता है, अहङ्कार-सर्वाध्यक्ष वुद्धि को उन सुख-दुःख रूपी विषयों को देता है। एवं वुद्धि से अभिन्न होने के कारण पुरुष (जीवात्मा) उन्हें अपने में मानता है। इस प्रकार सब अन्तःकरण और बाह्यकरणों में वुद्धि की प्रधानता है।३६॥

भाष्यम्

किञ्चान्यत्-यानि करणान्युक्तानि-एते गुणविशेषाः । किं विशिष्टाः ! प्रदीपकल्पाः=प्रदीपवद्विषयप्रकाशकः । परस्परविलक्षणाः=असदृशा, भिन्न-विषया इत्यर्थः । गुणविशेषेति । गुणविशेषाः=गुणेभ्यो जाताः । कृत्स्नं पुरुष-स्यार्थं वुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्वं स्वमर्थं पुरुषस्य प्रकाश्य, बुद्धौ प्रयच्छन्ति=वुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः । यतो वुद्धिस्थं सर्वं विषयमुखादिकं पुरुष उपलभते ॥३६॥

अवतरणिका—यह क्यों नहीं हो जाता कि वुद्धि ही अहङ्कार या मन के विषयों को अर्पण किया करे, इस शङ्का का समाधान करते हैं—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

[अन्वय—यस्मात् बुद्धिः पुरुषस्य सर्वं प्रत्युपभोगं साधयति, पुनः सा, एव, च, सूक्ष्मं, प्रधानपुरुषान्तरं, विशिनष्टि ।]

अहंकार और मन से बुद्धि के मुख्य होने में यह भी प्रमाण है कि वह पुरुष के सब प्रकार के विषय के भोगों को अर्थात् भुक्ति और मुक्ति को अकेले ही सिद्ध करती है, तथा प्रकृति और असंग पुरुष में जो अविवेक के कारण अभिन्नता आ गई थी उसे प्रकृति और पुरुष के परस्पर विवेक ज्ञान के द्वारा दूर करके उन दोनों के महान् अन्तर को भी प्रकट करती है। "सर्वम्" के आगे "विषयम्" यह शेष समझना चाहिए तथा (सर्वम्) यह जात्येक वचन है ॥३७॥

भाष्यम्

इदञ्चान्यत्—सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु, सर्वं प्रत्युपभोगम्—उपभोगं प्रति, देवमनुष्यतिर्यक्षु बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियद्वारेण सान्तःकरणा बुद्धिः साधयति = सम्पादयति यस्मात् तस्मात्—सैव च विशिनष्टि = प्रधानपुरुषयोविषयविभागं करोति, प्रधानपुरुषान्तरं = नानात्वमित्यर्थः । सूक्ष्ममिति । अनधिकृततपश्चरणैरप्राप्यम् । 'इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, इयं बुद्धिः; अयमहङ्कारः, एतानि पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि, अयमन्यः पुरुष एभ्यो व्यतिरिक्त' इत्येवं बोधयति बुद्धिः, यस्याऽवापादपवर्गो भवति ॥३७॥

अवतरणिका इस प्रकार अन्तःकरण और बाह्यकरण का विभाग करके विशेष और अविशेष का स्वरूप बताते हैं।

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥

[अन्वय – तन्मात्राणि, अविशेषाः, तेभ्यः, पंचभ्यः, पञ्चभूतानि, एते, विशेषाः, स्मृताः, शान्ताः, घोराश्च, मूढाश्च ।]

शब्द आदि तन्मात्रायें सूक्ष्म या अविशेष कहलाती हैं, क्योंकि उनमें रहने वाला शान्त, घोर या मूढ धर्म; उपभोग योग्यता रूप विशेषता न रखने के कारण अविशेषता तन्मात्रायें कही जाती हैं। मात्र शब्द का अर्थ केवल है कैवल्य-भोग साधन-हीनता को प्रकट करता है—इन तन्मात्राओं में क्रम से १,

२, ३, ४, ५, गुण वाले आकाश, अनिल, अनल, सलिल और धरणी नामक पाँच-विशेष = महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन्हें विशेष इसलिये कहा जाता है; क्योंकि इनमें शान्त, घोर और मूढ नाम का विशेषतायें स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती हैं। विशेष को स्थूल और अविशेष को सूक्ष्म कहते हैं ॥३८॥

भाष्यम्

पूर्वमुक्तं—विशेषाऽविशेषविषयाणि । तत् के विषयास्तान् दर्शयति । यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रम्—एतानि—अविशेषा उच्यन्ते । देवानामतेसुखलक्षणा विषया दु.खमोहरहिताः तेभ्यः पञ्चभ्यः = तन्मात्रेभ्यः, पञ्चमहाभूतानि = पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते—एतेस्मृता विशेषाः । गन्धतन्मात्रात् पृथिवी । रसतन्मात्रादापः । रूपतन्मात्तेजः स्पर्शतन्मात्राद्वायुः । शब्दतन्त्रमादाकाशम् । इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतानि, एते विशेषाः = मानुषाणां विषयाः शान्ताः = सुखलक्षणाः, घोराः = दुःखलक्षणाः, मूढाः = मोहजनकाः । यथा—आकाशं कस्यचिदनवकाशदन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति । तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति । तदेव पन्थानं गच्छतो वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति । एवं वायुर्घर्मात्तस्य शान्तो भवति, शीतार्त्तस्व घोरो धूलीशर्कराविमिश्रोऽतिवान् मूढ, इति । एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम् ॥३८॥

— - —

अवतरणिका—विशेषों के अवान्तर विशेष बताते हैं—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥

[अन्वय—विशेषाः, सूक्ष्माः, माता-पितृजाः, प्रभूतैः सह, त्रिधा; स्युः,, तेषां, सूक्ष्माः नियताः, मातापितृजाः निवर्तन्ते ।

सूक्ष्म देह, स्थूल देह और पञ्चमहाभूत इन तीनों को विशेष कहते हैं, यद्यपि सूक्ष्म को अनन्तरोक्तकारिका में 'अविशेष' बताया गया है, फिर यहाँ सूक्ष्म देह को 'विशेष' कहना उचित नहीं; तथापि शान्त; घोर और मूढ यहाँ इन्द्रियों से युक्त होने के कारण इन सूक्ष्म देहों को विशेष कहा जाता है। इस

षाट्कौशिक[1] कहलाता है। जिसमें से माता से शरीरगत लोम, लोहित, मांस की प्राप्ति होती है, पिता से स्नायु; अस्थि और मज्जा मिलता है[2]। इस प्रकार इसे षट्कोश जन्य कहा जाता है। यह षाट्कौशिक शरीर मरने के बाद जला देने से भस्मरूप; (रसान्त); किसी पेड़ पर टाँग देने से या जल में प्रवाहित करने से जलचर या नभचर जन्तुओं का भक्ष्य बनकर उनके विष्ठा के रूप में परिणत हो जाता है किन्तु यह सूक्ष्म शरीर नियत है अर्थात् जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक एक देह से दूसरे देह में संक्रमण करता ही रहता है ॥३९॥

भाष्यम्

अथाऽन्ते **विशेषाः**=**सूक्ष्माः**=तन्मात्राणि, यत्संगृहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्मशरीरं महदादि लिङ्गं सदा तिष्ठति, संसरति च, ते=**सूक्ष्माः**। तथा। **मातापितृजाः**=स्थूलशरीरोपचायकाः ऋतुकाले मातापितृसंयोगे शोणितशुक्रमिश्रीभावेनोदरान्तः सूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति। तत् सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरशितपीतनानाविधरसेन नाभिनिबन्धेनाऽऽप्यायते, तथाप्यारब्धं शरीरं **सूक्ष्मैर्मातापितृजैश्च** सह **महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः**, पृष्ठोदरजङ्घाकट्युरः शिरः—भृति षाट्कौशिकं, पाञ्चभौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जासंभृतम्, आकाशोऽवकाशदानाद्, वायुर्वर्द्धनात्, तेजः पाकाद्, आपः संग्रहात् पृथिवी धारणात् समस्तावयवोपेतं मातुरुदराद्बहिर्भवति। एवमेते। **त्रिधा विशेषाः स्युः** अत्राह—के नित्याः, के वा

---

१. यह षाट्कौशिक देह चार प्रकार का है—

जरायुजं गवादीनां मण्डलं पशुपक्षिणाम्।
उद्भिज्जं च तृणादीनां स्वेदज क्षुद्रजन्तुगम्॥

२. जैसा लिखा भी है कि—

रसाद् वै शोणितं जातं शोणितान्मांससम्भवः।
मांसात्तु मेदसो जन्म मेदसोऽस्थिसमुद्भवः॥
अस्थ्नो मज्जा समभवद् मज्जातः शुक्रसम्भवः।
शुक्राद् गर्भः समभवद् गर्भाज्जन्तुः प्रजायते ॥इति॥

अनित्याः ? । सूक्ष्मास्तेषां नियताः । सूक्ष्माः=तन्मात्रसंज्ञकास्तेषां मध्ये नियताः =नित्याः, तैरारब्ध शरीरम् धर्मवशात् पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरजानिषु संसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु । एवमेतन्नियत सूक्ष्मशरीरं संसरति, न याव-ज्ज्ञानमुत्पद्यते । मत्पन्ने ज्ञाने विद्वान् शरीरं त्यक्त्वा, मोक्षं गच्छति । तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति । मातापितृजा निवर्त्तन्ते । तत् सूक्ष्मशरीरं परित्य-ज्येहैव प्राणत्यागवेलायां मातापितृजा निवर्त्तन्ते । मरणकाले मातापितृज शरीरमिहैव निवृत्य भूस्यादिषु प्रलीयते, यथातत्वम् ॥३९॥

———

अवतरणिका—सूक्ष्म शरीर का स्वरूप बताते हैं—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥

[अन्वय—पूर्वोत्पन्नम्, असक्तं, नियतं, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्, निरुपभोगं, लिङ्गम्, भावैः अधिवासितं, संसरति ।

यह सूक्ष्म शरीर प्रकृति के द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिये सृष्टि के आरम्भ में एक एक बनाया जाता है; तथा यह असक्त=अव्याहत गति वाला; शिला तक में घुस सकने वाला; नियत=सृष्टि से लेकर महाप्रलय पर्यन्त स्थायी रहता है । इसका स्वरूप-महत् तत्त्व; अहङ्कार; एकादश इन्द्रियाँ; पंचतन्मात्रा और पुरुष इस प्रकार उन्नीस वस्तुओं से यह शरीर बनता है । यह बिना किसी भोग के स्थूल शरीर में रहता है; तथा धर्म अधर्म; ज्ञान अज्ञान; वैराग्य अवैराग्य; ऐश्वर्य अनैश्वर्य नाम के ८ भावों से युक्त होता हुआ लिङ्ग=महा-प्रलय समय में लय को प्राप्त होने वाला, एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है । जो सुख-दुःख का अनुभव स्थूल शरीर से होता है; वह इसके द्वारा होना असम्भव है क्योंकि यह शरीर निरुपभोग=स्थूल शरीर के बिना किसी भी भोग को न कर सकने वाला ही स्वभावतः सिद्ध है ॥४०॥

भाष्यम्

सूक्ष्मं कथं संसरति ? । तदाह—यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति । किञ्चाऽन्यत् असक्तं—न सयुक्तं—तिर्यग्योनिदेवमा-

नुपस्थानेषु, सूक्ष्मत्वात् कुत्रचिदसक्तं, पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति=गच्छति नियतम्। यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति। तच्च—महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्। महानादौ। यस्य तत्—महदादि=बुद्धिरहङ्कारी, मन इति। पञ्च तन्मात्राणि (=सूक्ष्माः)। सूक्ष्मपर्यन्तं=तन्मात्रपर्यन्तं संसरति=शूल-ग्रहपिपीलिकावत् त्रीनपि लोकान्। निरुपभोगं=भोगरहितं। तत् सूक्ष्मशरीरं माता-पितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भागेषु समर्थं भवतीत्यर्थः। भावैरधिवासितम्। पुरस्ताद्भावान् धर्मादीन्=वक्ष्यामः—४३ का)। तैरधिवासितम्=उपरञ्जितम्। लिङ्गमिति। प्रलयकाले महदादि सूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं प्रधाने लीयते, असंसरणयुक्तं सत् आसर्गकालमत्र वर्त्तते प्रकृतिमोहवन्धनवद्धं सत संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति। पुनःसर्गकाले संसरसि तस्माल्लिङ्गं—सूक्ष्मम् ॥४०॥

अवतरणिका—अकेली बुद्धि ही अहङ्कार इन्द्रियों के सहित एक शरीर से दूसरे शरीर में क्यों नहीं चली जाती ? इसका समाधान करते हैं—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥

[अन्वय—चित्रम्, यथा, आश्रयम्, ऋते (न तिष्ठति), यथा, छाया, स्थाण्वादिभ्यः, विना (न तिष्ठति), तद्वद् अविशेषैः विना, निराश्रयं, लिङ्गं न तिष्ठति।]

जैसे आश्रय के विना चित्र=आलेख नहीं ठहर सकता तथा स्थाणु आदि के विना जैसे छाया नहीं रहती, उस ही तरह लिंग=आत्मा के ज्ञापक बुद्धि आदि उन्नीस वस्तुएँ अविशेष=सूक्ष्म शरीर के विना नहीं रहती हैं। अतएव महाभारत में शरीर का देह से देहान्तर में जाना निम्नलिखित वाक्य में बताया गया है—

"अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलाद्।" इत्यादि

यहाँ पर अगुष्ठमात्र शब्द से सूक्ष्म शरीर का ग्रहण किया गया है, क्योंकि आत्मा का शरीर में से निकलना असम्भव है। इसीलिये उसे पुरुष कहते हैं। क्योंकि वह पुरुष (देहरूपी नगरी) में शयन करता है, बुद्धि आदि उसी प्रकार

विना शरीर के नहीं रहते, जिस प्रकार आधार के विना चित्र नहीं रहता, स्थाणु के विना छाया नहीं होती, अथवा लिंगम्=सूक्ष्म शरीर, विशेषै=स्थूल देहादि के विना नहीं रहता, यह अर्थ भी हो सकता है ॥४१॥.

भाष्यम्

किं प्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरतीत्येवं चोदिते सति आह— **चित्रं यथा** कुडयाद्याश्रयमृते **न तिष्ठति स्थाण्वादिभ्यः**=कीलकादिभ्यो **विना** यथा छाया न तिष्ठति=तैर्विना न भवति। आदि ग्रहणाद्यथा—शैत्यं विना नाऽऽपो भवन्ति, शैत्यं वाऽद्भिर्विना। अग्निरुष्णं विना वायुः स्पर्शं विना, आकाशमवकाशं विना, पृथिवी गन्धं विना **तद्वत्**=एतेन दृष्टान्तेन न्यायेन, **विनाऽविशेषैः**=अविशेषैस्तन्मात्रैर्विना **न तिष्ठति**। अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते। शरीरं पञ्चभूतमयम्, विशेषिणा शरीरेण विना क्व, लिङ्गस्थानं चेति क्व, (यदैव—) एकदेहमुज्झति तदैवाऽन्यमाश्रयति। **निराश्रवम्**=आश्रयरहितम्। **लिङ्ग**—त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः ॥४१॥

— —

अवतरणिका—सूक्ष्म शरीर की सिद्धि के अनन्तर वह जिस प्रकार जिन कारणों से संसरण=मरण के बाद शरीरान्तर गमन करता है, उन कारणों को बतलाते हैं—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

[अन्वय—इदं, लिङ्गम्, पुरुषार्थहेतुकम्, निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन, प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् नटवद् व्यवतिष्ठते।]

यह लिंग शरीर का संसरण, पुरुषार्थ के वश से ही होता है, एवं धर्मादि आठ भावों के निमित्त से शरीर नैमित्तिक=शरीरान्तर में जाता है और पूर्व शरीर को छोड़कर फिर शरीरान्तर का ग्रहण करता है, यह प्रसङ्ग सिलसिला

या अनुक्रम विवेकख्याति पर्यन्त चला जाता है।* जिस प्रकार एक नट आज परशुराम (वीरचरित में), कल युधिष्ठिर (वेणीसंहार में), परसों उदयन (रत्नावली में) का वेष धारण करके उन नामों से पुकारा जाता है, वैसे ही यह लिङ्ग शरीर आज पशु, कल पक्षी परसों जलचर जन्तु बनकर भिन्न-भिन्न शरीरों को धारण करता हुआ उन-उन नामों से पुकारा जाता है।

बिल्ली के शरीर में प्रवेश, करते ही लिङ्ग शरीर में बिल्ली के संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। ऊँट के शरीर में जाते ही ऊँट के संस्कार उद्बुद्ध होते हैं। मनुष्य के शरीर में जाते ही मनुष्य के, वानर के शरीर में वानर के। ऐसी अद्भुत शक्ति, लिंग शरीर में प्रकृति की विभुत्व शक्ति से ही प्राप्त होती है। लिखा भी है—वैश्वरूप्यात् प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः इति" अर्थात् यह पूर्वोक्त अद्भुत परिणाम लिंग शरीर में प्रकृति के अन्दर रहने वाली विभिन्न प्रकार की विचित्र शक्तियों के कारण ही इस शरीर में आ जाता है ॥४२॥

भाष्यम्

किमर्थम् ? तदुच्यते—'पुरुषार्थः कर्तव्यः' इति प्रधानं प्रवर्त्तते। स च द्विविधः, शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च। शब्दाद्युपलब्धिर्ब्रह्मादिषु लोकेषु गन्धादिभोगाऽवाप्तिः। गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्मोक्ष इति। तस्मादुक्तं—पुरुषार्थहेतुमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्त्तते इति निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। निमित्त = धर्मादि, नैमित्तिकम् ऊर्ध्वगमनादि पुरस्तादेव वक्ष्याम

---

* प्र = अधिक सङ्ग + सक्ति = धर्मादि सम्बन्ध, निमित्त—धर्माधर्मादि और नैमित्तिक = स्थूल शरीर परिग्रह के नैरन्तर्य के कारण होता है। नैमित्तिक = स्थूल शरीर से पुनः धर्माधर्मादि होते हैं। इन दोनों के अनादि कार्यकारण भाव से यह संसरण हो रहा है। यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता, क्योंकि इस परम्परा में आनन्त्य है, जहाँ आनन्त्य होता है वहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता जैसा उदयनाचार्य ने लिखा है कि—

सूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम् ?
वस्त्वानन्त्यादशक्तेश्च नानावस्था हि दूषणम् ॥

प्रसङ्गेन प्रसक्त्या । प्रकृतेः=प्रधानस्य, विभुत्वयोगात् । यथा—राजा स्वराष्ट्रे विभुत्वाद्यद्यदिच्छति तत्तत्करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र विभुत्वयोगान्निमित्त-नैमित्तिक प्रसङ्गेन व्यवतिष्ठते=पृथक् पृथग्देहधारणे लिङ्गस्य व्यवस्थां करोतिः । लिङ्गं=सूक्ष्मैः=परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं, त्रयोदशविध-करणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते । कथम् ? नटवत् । यथा नटः पलान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति, पुनर्मानुषः पुनर्विदूषकः । एवं लिङ्ग निमित्तनैमित्तिकप्रसंङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य—हस्ती, स्त्री, पुमान् भवति ।।४२।।

———

अवतरणिका—निमित्त और नैमित्तिक का विभाग करते हैं—

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ।।४३।।

[अन्वय—धर्माद्याः, भावाः, सांसिद्धिकाः, प्राकृतिकाः, वैकृतिकाश्च, करणा-श्रयिणः, दृष्टाः च कललाद्याः, कार्याश्रयिणः, दृष्टाः ।]

भाव दो प्रकार के हैं—प्राकृत या प्राकृतिक और वैकृत या वैकृतिक= नैमित्तिक । प्राकृतिक भावों को सांसिद्धिक या स्वाभाविक भाव कहते हैं । इनके उत्पन्न करने में मनुष्य को अपना कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता । दूसरे वैकृत नाम के भावों की उत्पत्ति में मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है । स्वाभाविक भाव अर्थात् स्वाभाविक धर्म और ज्ञान यह सृष्टि के आदि में महामुनि कपिल को प्राप्त हुआ था । प्रयत्न साध्य धर्म या ज्ञान नारद के उपदेश से बाल्मीकि महर्षि को प्राप्त हुआ था । उक्त आठों प्रकार के भाव या तो करणों=इन्द्रियों के आश्रित होकर रहते है या कार्य शरीर में आश्रित होकर रहते हैं । शरीर के रहने वाले इन भावों से ही गर्भगत प्राणों के कलल बुद्बुद, पेशी, मांस, नस, नाड़ी आदि भिन्न-भिन्न शरीर के अवयव बनते हैं तथा शैशव, कौमार, यौवन और वार्धक्य आदि अवस्थायें भी इन धर्माधर्म आदि के कारण होती हैं । जैसा लिखा भी है—

बालत्वं च कुमारत्व यौवनं वृद्धतामपि ।
ततश्च मरणं तत्र तत्कर्मप्राप्नोति पुरुषः ।।४३।।

भाष्यम्

"भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरती'त्युक्तं (४० का०) ततः के भावा इत्याह-भावास्त्रिविधाश्चिन्त्यन्ते—सांसिद्धिका, प्राकृताः, वैकृताश्च। तत्र सांसिद्धिका यथा—भगवतः कपिलस्याऽऽदिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्नाः, धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यमिति। प्राकृताः कथ्यन्ते,—ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-सनन्द-सनातन-सनत्कुमारा बभूवुः। तेषामुत्पन्नकार्यकाणानां शारीरिणां षोडश-वर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः। तथा वैकृता यथा-आचार्यमूर्ति निमित्त कृत्वाऽस्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते, ज्ञानाद्वैराग्यं, वैराग्याद्धर्मः, धर्मादैश्वर्यमिति। आचार्यमूर्त्तिरपिविकृतिरिति। तस्माद्वैकृता एते भावा उच्यन्ते, यैरधिवासितं लिङ्गं संसरति। एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः। तामसा विपरीताः सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् (२३ का०) इत्यत्र व्याख्याताः। एवमष्टौ। धर्मो, ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्य-मित्यष्टौ भावाः। क्व वर्त्तन्ते ?। दृष्टाः करणाश्रयिणः बुद्धिः=करणं, तदाश्रयिणः। एतदुक्तम् अध्यवसायो बुद्धिः धर्मो ज्ञानमिति। कार्यं= देहस्तदाश्रयाः कललाद्या ये 'मातृजा' इत्युक्ताः। शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धि-हेतुकाः बुद्बुदमांसपेशीप्रभृतयः, तथा कौमारयौवनस्थविरत्वादयो भावा अन्नपानरसनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिण उच्यते, अनादिविषभोगानि-मित्ता जायन्ते ॥४३॥

अवतरणिका—इस प्रकार निमित्त और नैमित्तिक का ज्ञान होने पर अब किस निमित्त से किस नैमित्त (कार्य) की उत्पत्ति होती है। यह स्पष्ट करते हैं :—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥

[अन्वय—धर्मेण, ऊर्ध्वं, गमनं, भवति, अधर्मेण, अधस्ताद्, गमनं भवति, ज्ञानेन च, अपवर्गः, विपर्ययात्, बन्धः, इष्यते।]

धर्मानुष्ठान से ऊर्ध्वगति=अर्थात् ब्रह्मलोक, प्रजापति लोक, इन्द्रलोक,

गन्धर्वलोक, विष्णुलोक, या पितृलोक आदि लोकों में जन्म होता है तथा अधर्म आचरण से उसके फलस्वरूप अधोलोक रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि नीच योनियों में जन्म होता है। ज्ञान के द्वारा पुरुष को मुक्ति मिलती है तथा विपर्यय=अज्ञान से प्राकृतिक वैकृतिक और दाक्षिणिक नाम का वन्धन प्राप्त होता है अर्थात् जो लोग शरीर को आत्मा मानते हैं, वे प्रकृतिलीन या प्राकृतिक वन्धन में पड़ते हैं। एवं जो महाभूतों, इन्द्रियों या अलङ्कार और बुद्धि को आत्मा मानते हैं, वे वैकृतिक वन्धन में पड़ते हैं, तथा दश मन्वन्तर तक इन्द्रियों को आत्मा मानने वाले प्रकृति में लीन रहते हैं; (एक मन्वन्तर चार युगों की ७१ बार आवृत्ति होने पर समाप्त होता है)।

एवं जो कामनाओं की पूर्ति के लिये यज्ञानुष्ठान करते हैं और यज्ञकर्ताओं को दक्षिणा आदि देकर नष्ट करते हैं, वे इष्टापूर्तकारी दाक्षिणिक वन्धन में पड़ते हैं। लिखा भी है—'अथ या इमे ग्राम इष्ठापूर्त्ते[1] दत्तमित्युपासते धूममभिसंभवन्ति इति"। विश्वरूपाचार्य लिखते हैं कि—

> शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम्।
> उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्य लभतेऽवशः ॥४४॥

भाष्यम्

निमित्तनैमित्तिकप्रभङ्गेने'ति तदुक्तयत्रोच्यते,—धर्मेण गमनमूर्द्ध्वम् धर्मं निमित्तं कृत्वोद्ध्वंमुपनयति। उर्द्ध्वमित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते। तद्यथा—ब्राह्मं, प्राजापत्यं, सौम्यमैन्द्रं, गान्धर्वं, याक्षं, राक्षसं, पैशाचमिति—तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरान्तेष्वधर्मो निमित्तम्। किञ्च ज्ञानेन चापवर्गः। अपवर्गश्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानम्। तेन निमित्तेनापवर्गो=मोक्षः। ततः सूक्ष्म शरीरं निवर्त्तते। परम्-आत्मा उच्यते। विपर्ययादिष्यते

---

१ अग्निहोत्रं तपः सत्यं, वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्यदेवश्च, इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥

बन्धः । अज्ञानं निमित्तम् । स चैष नैमित्तिकः—प्राकृतो, वैकारिको, दाक्षिणिकश्च वन्ध इति वक्ष्यति पुरस्तात् यदिदमुक्तं—

'प्राकृतेन च बन्धेन, तथा वैकारिकेण च ।
दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो, नाऽन्येनमुच्यते' ॥४४॥

अवतरणिका—प्रकृति लय और संसारादि का क्या कारण है । यह स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि—

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो[1] भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥४५॥

[अन्वय—वैराग्यात्, प्रकृतिलयः, राजसाद्, रागात्, संसारः, भवति, ऐश्वर्यात्, अविघातः, विपर्ययात्, तद्विपर्यासः ।]

वैराग्य से ऐहिक पारलौकिक सुखों की तृष्णा के हट जाने से, केवल वैराग्य भाव के होने से आत्मस्वरूप न जानने के कारण पुरुष प्रकृतिलीन होता है तथा रजोगुण से उत्पन्न राग-द्वेषः काम, क्रोध के कारण संसार में बार-बार जन्म लेता है । ऐश्वर्य से इच्छा का विघात नहीं होता है, तथा विपर्यय ऐश्वर्य से विपरीत अनैश्वर्य विपर्यास = इच्छा का प्रतिपद विघात हुआ करता है ॥४५॥

भाष्यम्

तथाऽन्यदपि निमित्तं यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति, न तत्त्वज्ञानं तस्माद् अज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयः मृतोऽष्टासु प्रकृतिषु प्रधानबुद्धयहङ्कारतन्मात्रेषु लीयते, न मोक्षः ततो भूयोऽपि संसरति । तथा योऽयं राजसो राग—'यजामि' 'दक्षिणां ददामि, येनामुष्मिन् लोकेऽत्र यद्दिव्यं मानुषं सुखमनुभवामि' । एतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति । तथा ऐश्वर्यादविघातः । एतदैश्वर्यमष्टगु-

---

१. संसारश्च मिथ्याधीप्रभवा वासना वासना । (प्रामाण्यवादे गदाधरः)
स्वादृष्टोपनिबद्धशरीरपरिग्रहः संसारः ।
(कातन्त्रपरिभाषायां गोपीनाथः) ।

णमणिमादियुक्तं तस्मादैश्वर्यनिमित्तादविघातो नैमित्तिको भवति=ब्रह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्यं न विहन्यते । किञ्चान्यत्=विपर्ययात्तद्विपर्यासः तस्य=अविघातस्य विपर्यासो=विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते ॥४५॥

अवतरणिका—बुद्धि के ८ धर्मों को संक्षेप और विस्तार के साथ बतलाते हैं। साथ ही मुमुक्षुओं के लिए क्या वर्जनीय और क्या ग्राह्य है यह भी बताते हैं—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्य विमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥

[अन्वय—एषः प्रत्ययसर्ग-विपर्ययः, अशक्ति-तुष्टि-सिद्ध्याख्यः, गुणवैषम्य-विमर्दात्, तस्य, तु, भेदाः, पञ्चाशत् ।]

यह प्रत्ययसर्ग=बुद्धि की सृष्टि है, जो विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के भेद से ४ प्रकार का है। इनमें से 'विपर्यय' अज्ञान या अविद्या है जो कि बुद्धि का धर्म है, अशक्ति इन्द्रियों की असामर्थ्य को कहते हैं। वह बाह्यकरण या अन्तःकरण की असामर्थ्य भी बुद्धि का ही धर्म है। तुष्टि और सिद्धि भी बुद्धि के ही धर्म हैं। जैसा अगली कारिका में लिखा है। इनमें से अधर्म और अज्ञान का विपर्यय में अन्तर्भाव है; क्योंकि ये दोनों नरक के हेतु हैं। अशक्ति में अनैश्वर्य और अवैराग्य का अन्तर्भाव है; क्योंकि ये दुःख के हेतु हैं। तुष्टि में धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का अन्तर्भाव माना गया है। सिद्धि का ज्ञान में अन्तर्भाव होता है। किन्हीं के मत में विपर्यय का ज्ञान में, अशक्ति का अधर्म में, तुष्टि का धर्म में अन्तर्भाव होता है। वह प्रत्यय-सर्ग का संक्षेप से निरूपण है। इसी प्रकार गुणों में जो वैषम्य=न्यूनाधिक भाव। उसके कारण जो विमर्द अर्थात् एक गुण या दो गुणों का किसी गुण के अविभव उससे होने वाली जो मन्दता गणगत शैथिल्य या मध्यता उससे एक या दो गुणों की हीन बलता या अधिक बलता उससे यह प्रत्ययसर्ग होता है। इन्हीं कारणों से प्रत्ययसर्ग के पचास भेद होते हैं; यही प्रत्ययसर्ग का सविस्तार निरूपण है।

अन्तर्भाव का चित्र—

१. विपर्यय में अज्ञान, अधर्म का (नरक हेतु होने से)
२. अशक्ति में अनैश्वर्य, अवैराग्य (दुःख हेतु होने से)
३. तुष्टि में धर्म वैराग्य, ऐश्वर्य का
४. सिद्धि में ज्ञान का ॥४६॥

भाष्यम्

एष निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोडशविधो व्याख्यातः स किमात्मक इत्याह-यथा एप षोडशविधो निमित्त-नैमितिकभेदो व्याख्यातः एष प्रत्ययसर्गः' उच्यते । प्रत्ययो=बुद्धिरित्युक्ता, अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो, ज्ञानमित्यादि । स च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा भिद्यते, विपर्ययाऽशक्ति तुष्टि-सिद्धयाख्य-भेदात् । तत्र संशयज्ञानं विपर्ययः । यथा कस्यचित् स्थाणुदर्शने 'स्थाणुरयं, पुरुषो वे' ति संशयः । अशक्तिर्यथा-तमेव स्थाणुं सम्यग् दृष्ट्वा संशयं छेत्तुं न शक्नोतीत्यशक्तिः । एवं तृतीयस्यातुष्टयाख्यो यथा तमेयं स्थाणुं ज्ञातुं, संशयितुं वा नेच्छति, किमनेनाऽस्माक'मित्येषा तुष्टिः । चतुर्थः सिद्धयाख्यो यथा—आनन्दितेन्द्रियः स्थाणुमहारूढां वल्लि पश्यति, शकुनिं वा, तस्य सिद्धिर्भवति—'स्थाणुरय' मिति । एवमस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य । गुणवैषम्यविमर्दात् यस्त्र च भेदास्तु पञ्चाशत् । योऽयं सत्त्व-रजस्तमोगुणानां वैषम्यं=विमर्दः, तेन तस्य प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्ति ॥४६॥

अवतरणिका— उक्त पचास भेदों को गिनाते हैं—

पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिस्तु करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

[अन्वय—पञ्च, विपर्ययभेदाः भवन्ति, अशक्ति, तु, करणवैकल्याद्, अष्टाविंशतिभेदाः, तुष्टिः, नवधा, सिद्धिः, अष्टधा ।]

जिससे प्रतीति (ज्ञान) की जाय उसे प्रत्यय कहते हैं । प्रत्यय शब्द का अर्थ बुद्धि है । इस प्रकार प्रत्ययसर्ग विपर्यय=अज्ञान के भेद से ५ प्रकार का होता है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश । ये ५ क्लेश ही विपर्यय

कहलाते हैं; क्योंकि व्यास भाष्य में क्लेशों की व्याख्या विपर्यय पद से की गई है, तथा अविद्या आदि पाँचों विपर्यय मिथ्या ज्ञान रूप हैं और इनमें अविद्या को तम, अस्मिता को मोह, राग को महामोह, द्वेष को तामिस्र, अभिनिवेश को अंधतामिस्र इन नामों से भी पुकारते हैं। इस प्रकार विपर्यय के पाँच भेद, अशक्ति के २८ भेद, तुष्टि के ९ भेद तथा सिद्धि के ८ भेद इस प्रकार कुल भेदों को मिलाकर बुद्धि सृष्टि ५० प्रकार की है। उक्त ७ भावों में से अधर्म व अज्ञान का विपर्यय में, अनैश्वर्य और अवैराग्य का अशक्ति में, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का तुष्टि मे अन्तर्भाव समझना चाहिये।

भाष्यम्

तथा क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति, रजस्तमसी उदासीने। क्वापि रजः, क्वापि तम इति। भेदाः कथ्यन्ते- पञ्च विपर्ययभेदाः। ते तथा-तमो मोहो, महामोह, तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। एषां भेदानां नानात्वं वक्ष्यतेऽनन्तरमेवेति। अशक्तेस्त्वष्टा विंशति भेदा भवन्ति, करणवैकल्यात्। तानपि वक्ष्यामः। ऊर्ध्वस्रोतसि राजसानि ज्ञानानि। तथा तुष्टिर्नवधाऽष्टविधा सिद्धिः। सात्त्विकानि ज्ञानानि तत्रैवोर्ध्वस्रोतसि ॥४७॥

अवतरणिका—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच प्रकार के विपर्यय का अवान्तर भेद बतलाते हैं—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

[अन्वय तमसः, भेदः अष्टविधः, मोहस्य, च महामोहः, दशविधः, तामिस्र अष्टादशधा, तथा, अन्धतामिस्रः भवति।

इस कारिका में अविद्या आदि को उक्त तम आदि संज्ञाओं से पुकारा गया है (क) तम=अविद्या या विपर्यय ८ प्रकार का होता है, क्योंकि (१) अव्यक्त, (२) महत‌तत्व, (३) अहंकार, (४) शब्द तन्मात्रा, (५) रूप तन्मात्रा, (६) रस, तन्मात्रा, (७) गन्ध तन्मात्रा, (८) स्पर्श तन्मात्रा = इस प्रकार के ८ भेद माने गये हैं। (ख) मोह=अस्मिता के ८ भेद होते ८ हैं; क्योंकि ऐश्वर्य प्रकार का है। वे आठों भेद निम्नलिखित हैं—

(१) अणिमा की नित्यता, (२) महिमा की नित्यता, (३) गरिमा को नित्यता, (४) लघिमा की नित्यता, (५) प्राप्ति (संयोग) की नित्यता, (६) प्राकाम्य की नित्यता, (७) वशित्व की नित्यता, (८) ईशत्व की नित्यता। [ग] महामोह = राग—आसक्ति भी निम्नलिखित प्रकार से दस प्रकार की होती है—

१. दिव्य शब्द नित्यत्व	१. अदिव्य शब्द नित्यत्व
२. दिव्य स्पर्श नित्यत्व	२. अदिव्य स्पर्श नित्यत्व
३. दिव्य रूप नित्यत्व	३. अदिव्य रूप नित्यत्व
४. दिव्य रस नित्यत्व	४. अदिव्य रस नित्यत्व
५. दिव्य गन्ध नित्यत्व	५. अदिव्य गन्ध नित्यत्व

[घ] तामिस्र = द्वेष निम्नलिखित प्रकार से १८ प्रकार का होता है—

१. उक्त दिव्यादिव्य भेद से कहे गये शब्दादि विषयों के प्रति द्वेष होने से यह द्वेष इस प्रकार का हुआ।

२. उक्त ८ प्रकार की सिद्धियों के प्रति द्वेष होने से अणिमत्व द्वेष इत्यादि नाम वाला द्वेष ८ प्रकार का होता है। कुल मिलाकर १८ प्रकार के द्वेष हुए।

[ङ] अंधतामिस्र = अभिनिवेश भी १८ प्रकार का ही होता है—

१. उक्त दिव्यादिव्य भेद से कहे गये राग के प्रति अभिनिवेश होने से दिव्यशब्दाभिनिवेश, अदिव्यशब्दाभिनिवेश इत्यादि नाम वाला इस प्रकार का अभिनिवेश होता है।

२. इसी प्रकार अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियों के प्रति भी "ये मुझसे कभी दूर न हों।" इस प्रकार की भावना विशेष ही अभिनिवेश कहलाती है, तथा अणिमनाशमय महिमनाशमय इत्यादि भेदों से यह अभिनिवेश ८ प्रकार का है। इस प्रकार कुल मिलाकर अभिनिवेश के भी १८ भेद हुए। यदि ५ प्रकार के विपर्यय के कुल अवान्तर भेदों की गणना की जाये तो सब मिलकर ६२ प्रकार के भेद हुए ॥४८॥

भाष्यम्

एतत् क्रमेणैव वक्ष्यते । तत्र विपर्यभेदा उच्यन्ते—तमसस्तावदष्टधा भेदाः । प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते सोऽष्टासु प्रकृतिषु लीयते, प्रधानबुद्ध्यहङ्कारपञ्चतन्मात्राख्यासु तत्र लीनमात्मानं मन्यते—'मुक्तोऽह मिति । तमोभेद एषः । अष्टविधस्य मोहस्य भेदो अष्टविध एवेत्यर्थः । तत्राऽष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं तत्र सङ्गादिदन्द्रायो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरन्त्येषोऽष्टविधो 'मोह' इति । दशविधो महामोहः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः मानुषाणामप्येत एव शब्दादयः पञ्च विषयाः । एवमेतेषु दशसु 'महामोह' इति । तामिस्रोऽष्टादशधा । अष्टविधमैश्वर्यं, दृष्टानुश्रविका दश, एतेषामष्टादशानां सम्पदमनुनन्दन्ति विपदं नानुमोदन्ते ? एषोऽष्टादशविधो विकल्पस्तामिस्रः । यथा तामिस्रोऽष्टगुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविकादशविषयास्तथाऽन्धतामिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव । किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एव भ्ररयतेऽष्टगुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते, ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते, सोऽधन्तामिस्र एवं विपर्ययभेदास्तमः प्रभृतयः पञ्च प्रत्येक भिद्यमाना द्विषष्टिभेदाः । संवृत्ता इति ॥४८॥

अवतरणिका—पंचविध विपर्यय के उक्त प्रकार के ६२ भेद बताकर अब २८ प्रकार की अशक्ति को बताते हैं—

ऐकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

[अन्वय—एकादशः, इन्द्रियवधाः बुद्धिवधैः, सह, अशक्ति; उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनां, विपर्ययात्, बुद्धिः, सप्तदश, वधाः ।]

इन्द्रियों का वध बुद्धि के वध के कारण बनता है । अतः कार्य कारण में अभेद होने से इन्द्रिय का वध बुद्धि का वध कहा गया है । कान में बहरापन, त्वचा में कुष्ठदोष होना; नेत्रों में अन्धता होना, रसना में रस-ग्रहण शक्ति का अभाव, नासिका में गन्ध-ग्रहण शक्ति की अक्षमता, जिह्वा में मूकता होना, हाथों में कौण्व (लुन्जापन), पैरों में पंगुता होना, जननेन्द्रिय में क्लैब्य होना । शौचेन्द्रिय में उदवर्त—मलमूत्र रोधक वायु का प्रवेश होना या शौचेन्द्रिय का

वाहर आना अर्थात् काँच निकलना। मन में मन्दता -- मूढता होना। ये ११ इन्द्रियाँ वध है, तथा तुष्टि और सिद्धि के विपर्यय से १७ प्रकार के बुद्धि स्वरूप के वध स्वरूपगत होने से बुद्धिवध कहलाते हैं। जो निम्नलिखित हैं—

नौ अतुष्टियाँ—

१. प्रधान नाम की कोई वस्तु नहीं इस अतुष्टि को 'असुवर्णा' कहते हैं।

२. महत्‌तत्त्व नाम की कोई वस्तु नहीं इस प्रतीति को 'अनिला' या 'अज्ञानमलिना' नाम की अतुष्टि कहते हैं।

३. अहङ्कार नहीं है, इस प्रतीति को 'मनोज्ञा' नाम की अतुष्टि कहते हैं।

४. न तन्मात्रायें हैं, न महाभूत ही हैं, इस प्रतीति को 'अदृष्टि' नाम की अतुष्टि कहते हैं।

५. धनार्जन में प्रवृत्ति को 'अपरा कहते हैं।

६. रक्षण की प्रवृत्ति को 'सुपरा' कहते हैं।

७. धनों के विनाश को न देखना 'असुनेत्रा' है।

८. भोगासक्ति को वसुनाड़िका कहते हैं।

९. हिंसादि दोषों को न देखकर भोग में प्रवृत्ति करना 'अनुत्तमाम्भसिका' कहलाती है।

आठ असिद्धियाँ—

१. विना पढ़े जो तत्त्व 'असिद्ध भेद ज्ञान' होता है उसे 'अप्रतार' कहते हैं।

२. अन्य के लिये बोले गये शब्दों को यदि अनुद्दिष्ट व्यक्ति सुनकर ज्ञान करले, तो उसे 'अशब्द' 'असुतार' नाम की असिद्धि कहते हैं।

३. वेदशास्त्र के अनुकूल तर्कों के बिना जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'अतारतार' कहते हैं।

४. शत्रुभूतवादों के उपदेश से उत्पन्न विपरीत ज्ञान को 'अरम्यक' असिद्धि कहते हैं।

५. दानादि के विना असन्तुष्ट गुरु के द्वारा गृहीत ज्ञान वासनाओं को नष्ट न करने वाला होने से 'असदामुदित' असिद्धि कहलाता है।

६. आध्यात्मिक, शारीरिक व मानसिक दुःखों को सुख मानकर आत्मज्ञान की जिज्ञासा न करना 'अप्रमोद' नाम की असिद्धि है।

७. आधिभौतिक दुःखों के होने पर भी जिज्ञासा न होना 'अमुदित' असिद्धि है ।

८. राक्षस, पिशाच या ग्रहों के आवेश से आधिदैविक दुःखों के होने पर संसारानलसंतप्त कामिनीपरायण को अनुद्वेग के कारण जो दुःख कारणों की जिज्ञासा नहीं होती वह "अमोदमान" नामक असिद्धि की प्राप्ति है ।

किन्हीं आचार्यों के मत में इन १७ अशक्तियों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) प्रकृति विपरीता; (२) उपादान-विपरीता; (३) काल-विपरीता; (४) भाग्यविपरीता; (५) पार विपरीता; (६) सुपार-विपरीता; (७) पारावार-विपरीता; (८) अनुत्तमाम्भः-विपरीता; (९) उत्तमाम्भो-विपरीता; (१०) अध्ययन-विपरीता; (१) शब्द-विपरीता; (१२) ऊह-विपरीता; (१३) सुहृत्प्राप्ति-विपरीता; (१४) दानविपरीता; (१५) आध्यात्मिक दुःखनाश विपरीता; (१६) आधिभौतिक-दुःखनाशविपरीता; (१७) आधिदैविक दुःखनाश-विपरीता ॥४९॥

भाष्यम

अशक्तिभेदाः, कथ्यन्ते—'भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टाविंशति भेदा' इत्युद्दिष्टम् । तत्रैकादशेन्द्रियवधाः बाधिर्यम्, अन्धता, प्रसप्तिः, उपजिह्विका, घ्राणपाको, मूकता, कुणित्वं खाञ्ज्यं, गुदावर्त्तः, क्लैब्यमुन्माद इति । सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ये बुद्धिवधास्तैः सहाऽशक्तेरष्टाविंशतिभेदा भवन्ति । सप्तदश वधा बुद्धेः । सप्तदशवधास्त तुष्टिभेदसिद्धिभेदवैपरीत्येन । तुष्टिभेदा नव, सिद्धिभेदा अष्टौ, एतद्विपरीतैः सह एकादश (इन्द्रिय) वधा, एवमष्टाविंशति-विकल्पा अशक्तिरिति ॥४९॥

अवतरणिका—नौ प्रकार की तुष्टि की गणना किस प्रकार से की जाती है, यह बताते हैं—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

[अन्वय—प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः चतस्रः, आध्यात्मिक्यः विषयोपरमात्, पञ्च, बाह्याः, नव तुष्टयः, अभिमताः ।]

जो व्यक्ति "प्रकृति से भिन्न आत्मा है" यह जानकर भी श्रवण मनन के द्वारा इसके साक्षात्कार के लिये किन्हीं कारणों से यत्न नहीं करता और विपरीत उपदेश से तुष्टि मान बैठता है उसे आध्यात्मिक तुष्टि होती है, जो चार प्रकार की है, जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल और भाग हैं। जिनमें (१) विवेक का साक्षात्कार प्रकृति का ही परिणाम भेद है और प्रकृति से ही स्वयं उत्पन्न हो जाता है, उसके साक्षात्कार करने के लिये ध्यानाभ्यास आदि साधन की आवश्यकता नहीं, हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहो, ऐसी जो तुष्टि है, वह प्रकृति तुष्टि है इसका दूसरा नाम "अम्भः" है। (२) विवेक ख्याति प्रकृति जन्म होने पर भी केवल प्रकृति से नहीं होती, किन्तु प्रव्रज्या भी इसमें कारण है अतः प्रव्रज्या अवश्य करो ध्यानाभ्यास चाहे न करो इस उपदेश से जो तुष्टि होती है उसका नाम "उपादान" है इसे "सलिल" भी कहते हैं। (३) प्रव्रज्या सद्यः मोक्षदा नहीं वह काल की अपेक्षा करती है इस उपदेश से हुई तुष्टि को काल, मेघ या ओघ तुष्टि कहते हैं। (४) न प्रकृति से न उपादान से और न काल से ही विवेक ख्याति होती है, किन्तु वह तो भाग्य से होती है जैसे मदालसा के पुत्र को हुई इस तुष्टि का नाम "भाग" (ग्य) तुष्टि है इसका दूसरा नाम "वृष्टि" भी है। मदालसा की कथा इस प्रकार है कि मदालसा गदर्शराज विश्वावसु की पुत्री थी इसका विवाह कुवलयाश्व नामक राजपुत्र से हुआ।

एक दिन ऋषि यज्ञों की रक्षा के लिये कुवलयाश्व बाहर गया हुआ था तब किसी शत्रु ने आकर यह समाचार सुना दिया कि कुवलयाश्व मारे गये, बस वह मदालसा मर गयी। इसके बाद उग्र तपस्या से शिव को प्रसन्न करने वाले अश्वतर नामक, कुवलयाश्व के हितैषी मित्र नागराज के फणे से उस ही मदालसा ने उसी तरह की यांगज्ञ, युवती मदालसा के रूप में जन्म लिया, तथा वह नागराज की कन्या कहलाई। कुवलयाश्व ने उसे अपनी पत्नी बना लिया और नागराज कन्या उस मदालसा से कुवलयाश्व ने अनेक पुत्रों को प्राप्त किया। उन्हें मदालसा ने गोद में ही विवेक ज्ञान करा दिया जिससे वे सब जीवनमुक्त हो गये। इस "भाग" नाम की तुष्टि को "वृष्टि" तुष्टि भी कहते हैं। इस प्रकार ये चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ कही जाती हैं।

यह सब कार्य भाग्य से ही हुआ; जिसमें पूर्व जन्म का कर्म कारण था। जैसे सर्वज्ञातमुनि ने लिखा है कि—

जन्मान्तरेषु यदि साधनजातमासीत्,
संन्यासपूर्वकमिदं श्रवणादिरूपम् ।
विद्यामवाप्स्यति ततः सकलोऽपि यत्र
तत्राश्रमादिषु वसन्न निवारयामः ॥

इन चारों तुष्टियों को क्रम से अम्भः, सलिल, ओघ या मेघ और वृष्टि भी कहते हैं; क्योंकि 'अभि' धातु से (असुन्) प्रत्यय करने पर 'अम्भस्' शब्द और सृ धातु से इरिन् प्रत्यय करने पर सलिल शब्द बनता है। (अङ्कुर के लिये सलिल के समान प्रव्रज्या कारण है) जैसे—जल का प्रवाह (ओघ) बहने पर कभी लौटता नहीं, इसी प्रकार 'काल' लौटता नहीं। अतः इसे ओघ या मेघ कहते हैं।

इसी प्रकार भाग नामक तुष्टि की वृष्टि संज्ञा भी सर्वाप्यायन हेतु से पड़ती है। जैसे वृष्टि तृण लतादि का आप्यायन करती है वैसे ही सब प्राणियों का भाग्य से आप्यायन हो जाता है। बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के ५ विषयों से उपरम होने से, तथा प्रकृति महत् अहङ्कार, महाभूत और इन्द्रियों को आत्मा मान लेने पर जो उपरम=वैराग्यपूर्वक विषयों में (१) अर्जन; (२) रक्षण; (३) क्षय; (४) भोग; (५) हिंसा आदि दोषों को देखने से तुष्टि होती है। वह पाँच प्रकार की मानी जाती है—(१) अर्जनजन्य दुःख को देखकर हुई तुष्टि को (पार) कहते हैं; (२) रक्षण दोष जन्य तुष्टि को (सुपार) कहते हैं; (३) रक्षित और अर्जित भी धन क्षीण हो जाता है। इससे धन को अर्जित करना ही उचित नहीं, इस प्रकार वैराग्यजन्य तुष्टि को पारापार कहते हैं; (४) भोगों में लिप्त होने पर कभी भोगों से मन हटता नहीं, किन्तु उत्तरोत्तर भोग तृष्णा बढ़ती जाती है। अतः उन विषयों में प्रवृत्त न होना ही उचित है। भोगों में दोष दर्शन से उत्पन्न इस तुष्टि को "अनुत्तमाम्भः" कहते हैं; (५) हिंसा प्राणियों की हिंसा किये बिना कोई भी भोग न बन सकता इसलिए भोगों में हिंसा दोष के देखने से कारुण्य मूलक जो उपरम=तुष्टि होती है, उसे उत्तमाम्भ कहते हैं। यहाँ पर अम्भस् शब्द जलवाची है; जैसे जल अङ्कुर की उत्पत्ति में समर्थ होता है वैसे ही यह तुष्टि भी विवेक ख्याति को परम्परा से उत्पन्न करती है।

गौडपादाचार्य के मत में पाँचों के नाम—सुतमः; पारम्; सुनेत्रम्; नारीकम् अनुत्तमाम्भसिकम् हैं। तथा माठरवृत्तिकार इन्हें तार; सुतार सुनेत्र; सुमारीच; उत्तमाभय नामों से पुकारते हैं।

विषय सङ्कटों से सुखपूर्वक पार उतार देने के कारण तार, विषयार्णव के पार पहुंचा देने से सुखपूर्वक कैवल्यावस्था तक नयन से 'सुनेत्र' विषयाशक्ति हटने पर सुन्दर मरीचि वाला होने से सुमारीच, भयों से सबसे बड़ा भय हिंसा का होता है अतः इसे उत्तम + आ + भय (उत्तमाभय) कहते हैं। इसकी हिंसा-मय रूपी जल में डूब जाने से उत्तमाम्भसिक संज्ञा भी है ।

श्री वाचस्पति मिश्र के मत में प्रकृति तुष्टि को संसार में डुबा देने के कारण अम्भः। उप—वृद्धावस्था के निकट आदान ग्रहण की गई प्रव्रज्या उदा-पान या सलिल कही जाती है। कालतुष्टि को 'ओघ' (उहिर् अर्दन से ओघ शब्द बनता है।) भाग्यतुष्टि को अनियत होने से वृष्टि कहते हैं; इसकी व्युत्पत्ति वर्षत्यस्माद् विवेकख्यातिरिति वृष्टिः । अर्जनदुःख से पार पहुँचाने के कारण 'पार', अर्जनदुःख छोड़ देने की कामना से 'सुपार'; भयदोष से कभी प्रवृत्ति कभी अप्रवृत्ति अतः पारापार; भोगदोष से मनोदुति न कराने के कारण अनुत्त-माम्भ; हिंसादोष के दर्शन से सर्वथा निवृत्ति होती है, अतः उत्तमाम्भः' नामक तुष्टियाँ कहलाती हैं ॥५०॥

भाष्यम्

विपर्ययात्तुष्टिसिद्धेनामेवं भेदक्रमो द्रष्टव्यः। तत्र तुष्टिर्नवधा कथ्यते—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः। अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः। ताश्च प्रकृत्युपा-दानकालभाग्याख्याः। तत्र प्रकृत्याख्या यथा कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति, तस्याः सगुण-निर्गुणत्व च, तेन तत्त्वं = तत्कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्यनास्ति मोक्षः। एषा प्रकृत्याख्या। उपादानाख्या यथा—कश्चिदविज्ञायैव तत्त्वान्युपादानग्रहणं करोति —'त्रिदण्डकमण्डलुविविदिषाभ्यो मोक्ष' इति, तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एषा उपादानाख्या। तथा कालाख्या- 'कालेन मोक्षो भविष्यतीति किं तत्त्वाभ्यासेने-त्येषा कालाख्या तुष्टिस्तस्य नास्ति मोक्ष इति। तथा भाग्याख्या—'भाग्येनैव मोक्षो भविष्यति' इति भाग्याख्या। चतुर्धा तुष्टिरिति। बाह्या विषयोपरमाच्च

पञ्च । बाह्यास्तुष्टयः पञ्च, विषयोपरमात् । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोऽर्जनरक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा-दर्शनात् (धन) वृद्धिनिमित्तं पाशुपाल्यवाणिज्यप्रतिग्रहसेवाः कार्या, एतदर्जनं दुःखम् । अर्जितानां रक्षणं दुःखम् । उपभोगात्क्षीयत इति क्षयदुःखम् । तथा विषयोपभोगसङ्गे कृते नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोष । तथा न अनुपहत्य भूतान्युपभोग इत्येष हिंसादोषः । एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयः । एवमाध्यात्मिको-बाह्याभेदान्नव तुष्टयः तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि —अम्भः, सलिलं, मेघो वृष्टिः, सुतमः पारं सुनेत्र नारीकम्, अनुत्तमाम्भसिकम् इति । आसां तुष्टीनां विपरीता अशक्तिभेदाद् बुद्धिवधा भवन्ति । तद्यथा—अनम्भोऽसलिलममेघ इत्यादिवैपरीत्याद् बुद्धिवधा इति ।।५०।।

अवतरणिका—अब गौण व मुख्य सिद्धियों के भेद बताते हैं—

(जो सिद्धियाँ साक्षात् दुःखध्वंस करती हैं वे मुख्य हैं, एवं जो परम्परया दुःखनाश की हेतु हैं वे गौण कहलाती है ।)

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ।।५१।।

[अन्वय—ऊहः शब्दः अध्ययनं, त्रयः दुःखविघाताः सुहृत्प्राप्तिः दानं च, अष्टौ, सिद्धयः, सिद्धेः पूर्वः, त्रिविधः, अङ्कुशः ।]

दुःख के तीन भेद हैं, तदनुसार दुःखनाश के उपाय भी तीन प्रकार के हैं । इन आठ सिद्धियों में जो सिद्धियाँ दुःख का साक्षात् विनाश करती है, वे मुख्य सिद्धि मानी जाती हैं और उनका ही नाम दुःखविघात है अर्थात् आध्यात्मिक दुःखविनाश, आधिदैविक दुःखविनाश, आधिभौतिक दुःखविनाश । ये तीन सिद्धियाँ मुख्य हैं तथा इनका ही नाम क्रम से प्रमोद, मुदित और मोदमान हैं । शेष ५ सिद्धियों में से अध्ययन हेतुभूत ही है अन्य चार शब्द 'ऊह' सुहृत्प्राप्ति और दान नामक सिद्धियाँ हेतुभूत हैं, और हेतुमती भी हैं ।

गुरु-मुख से विद्या अध्ययन करना अध्ययन कहलाता हैं । यह पहली सिद्धि है । इसका दूसरा नाम 'तार' है । अध्ययन से शब्द नाम की सिद्धि उत्पन्न होती है । "शब्द" शब्द का अर्थ पद है और यहाँ पद से पदजन्य अर्थ का ज्ञान लिया

जाता है। इसका दूसरा नाम 'सुतार' है। वह ऊह को ही तर्क कहते हैं। शास्त्र के अविरोधी न्याय से शास्त्र प्रतिपादित अर्थ की परीक्षा को तर्क या ऊह कहते हैं। इसे ही मनन कहा जा सकता है तथा इसका दूसरा नाम 'तारतार' है। केवल अपने मन से ही मनन करना और स्वयं मनन किये हुए पदार्थ का अपने सतीर्थ्यों (मित्रों) से विचार-विनिमय करके दृढ़ न करना पूरा-पूरा मनन नहीं कहा जा सकता है। अतः जो कुछ स्वयं समझा है उसकी दूसरों से पुष्टि कराने के लिये उस रहस्य के जानकार मित्रों की प्राप्ति का नाम सुहृत्प्राप्ति है, इस सिद्धि का दूसरा नाम 'रम्यक' भी है क्योंकि मित्र-सम्पर्क रमणीय होता है। अमुख्य सिद्धियों में से ५ वीं सिद्धि दान कहलाती है। दान शब्द 'दैप्' शोधने धातु से वना है। इसका अर्थ शुद्धि पवित्रता, अविप्लव है। विचार करते-करते जब सन्देह और विपरीत ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं तव मन् की पूर्ण शुद्धि या पवित्रता होती है। यही पाँचवीं सिद्धि है। इसका दूसरा नाम 'सदामुदित' है।

कुछ आचार्य इस कारिका की इस रूप में व्याख्या करते हैं—प्राक्तन कर्मों से जो तत्त्व का बिना उपदेश के स्वयं ज्ञान करता है, उस सिद्धि का नाम ऊह है। किसी दूसरे के अध्ययन करते समय जिसे पढ़ाया नहीं जा रहा है ऐसा, उस पाठ को सुनने वाला व्यक्ति, यदि ज्ञान को प्राप्त करले तो उस सिद्धि का नाम शब्द है। गुरु के द्वारा सांख्यशास्त्र पढ़ाने से जो सिद्धि होती हैं उसे 'अध्ययन' सिद्धि कहते हैं। जिसे तत्त्वज्ञानी मित्र के सम्वन्ध से ज्ञान उत्पन्न हो उसे 'सुहृत् प्राप्ति' सिद्धि कहते हैं। धन लेकर प्रसन्न हुआ ज्ञानी जो अपना ज्ञान देता है उस सिद्धि का नाम दान सिद्धि है। इन दोनों विवेचनों में औचित्य और अनौचित्य का विचार स्वयं कर लेना चाहिये। तथापि 'यह जान लेना चाहिये कि पहली ऊह सिद्धि के कारणों में जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों को स्वीकार करना और ऐहिक कारणों का परित्याग करना अनुचित है। इसी प्रकार दूसरी "शब्द" सिद्धि की व्याख्या में भी अर्थ ज्ञानपूर्वक अध्ययन ही तत्त्व-ज्ञान का कारण मानना चाहिए, केवल शब्द श्रवण नहीं। अतः शब्द-सिद्धि की यह व्याख्या अनुचित है, पाँचवीं "दान" सिद्धि में ज्ञानी को धनादि देकर वश में करके ज्ञान-लाभ करना गुरु को लोभी ही सिद्ध करता है, क्योंकि लिखा है

कि "संस्कृतैः प्राकृतैर्वाऽपि यः शिष्यमनु-रूपतः देशभाषाद्युपायैश्च बोधयत् स गुरः स्मृतः" अतः दान सिद्धि की व्याख्या भी अनुचित है। तीसरी अध्ययन और चतुर्थ सुहृत्प्राप्ति में कोई अन्तर नहीं; क्योंकि सुहृत्प्राप्ति का अर्थ मित्रोपदेश है। 'दान' भी द्रव्य दान से अध्ययन ही है, अतः दान और सहृत्प्राप्ति 'अध्ययन' के ही अन्तर्भूत हो जाता है.।

इन सिद्धियों की प्राप्ति में विपर्यय, अशक्ति और तुष्टियाँ ये तीन विघ्न रूप में आती हैं। अतः वे सिद्धि की अंकुश के समान निवारक होने से 'अंकुश' कही जाती हैं। अंकुश से सिद्धियों को हथिनी बताया गया है। यह एक सुन्दर रूपक है। मन में से विपर्यय-स्थावर योनि के लिये अंकुश-ज्ञान निवर्तक होता है क्योंकि इस योनि में सब इन्द्रियाँ निवृत्त हो जाती हैं। अशक्ति-पशु पक्षियों के लिये अंकुश होती है। तुष्टि देवों के लिये अंकुश है तथा सिद्धियाँ मनुष्यों के लिये अंकुश हैं केवल ज्ञान सिद्धि ही आत्मज्ञान जनक होती है। यह भी समझ लेना चाहिये ॥५१॥

भाष्यम्

सिद्धिरुच्यते। ऊहो यथा कश्चिन्नित्यमूहते='किमिह सत्यं, किं परं, किं नैःश्रेयसं, किं कृत्वा कृतार्थः स्याम्। इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते, 'प्रधानादन्य एव पुरुषः इतोऽन्या बुद्धिरन्योऽहङ्कारोऽन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानी' त्येवं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते येन मोक्षो भवति। एषा 'ऊहा'ख्या प्रथमा सिद्धिः। तथा शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतविषयं ज्ञानं भवति, ततो मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या सिद्धिः। अध्ययनाद्=वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्य, तेन मोक्षं यातीत्येषा तृतीया सिद्धिः। दुःखविघातत्रयम्। आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविघाताय गुरुं समुपगम्य तत उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः। एषैव दुःखत्रयभेदात्त्रिधा कल्पनीयेति षट् सिद्धयः। तथा सुहृत्प्राप्तिः। यथा कश्चित् सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति, एषा सप्तमी सिद्धिः दानं यथा—कश्चिद्भगवतां प्रत्याश्रयौषधित्रिदण्डकुण्डिकादीनां ग्रासाच्छादनादीनां च दानेनोपकृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति। एषाष्टमी सिद्धिः। आसामष्टानां

सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञा कृताः तारं, सुतारं, तारतारं प्रमोद प्रमुदितं, प्रमोदमानं, रम्यकं सदाप्रमुदितम् इति। आसां विपर्ययाद् बुद्धेर्वधा ये विपरीतास्त अशक्तौ निक्षिप्ताः, यथाऽतारमसुरतारमतारमित्यादि द्रष्टव्यम्। अशक्तिभेदा अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धि धरकादशेन्द्रियवधा इति तत्र तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धानां विपर्यया अष्टौ, एवमेव सप्तदशः बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा अष्टाविंशतितिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्धिनामेवोद्देशो, निर्देशश्च कृत इति। किञ्चान्यत्? सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः सिद्धेः पूर्वा या विपर्ययाऽशक्तितुष्टयस्ता एव सिद्धेरङ्कुशस्तद्भेदादेव त्रिविधः। यथा-हस्ती गृहीताङ्कुशेन वशो भवति एवं वि ययाऽशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकोऽज्ञानमाप्नोति, तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, तस्मान्मोक्ष इति ॥५१॥

———

अवतरणिका—सृष्टि का निर्माण पुरुषार्थ के कारण होता है। पुरुषार्थ (भोग या मोक्ष) बुद्धि सृष्टि अर्थात् महत् तत्वजन्य सृष्टि अर्थात् विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि-सिद्धि की सृष्टि से अथवा तन्मात्र सृष्टि=आकाश आदि की सृष्टि से सिद्ध हो सकता है। अतः बुद्धि सृष्टि और तन्मात्र सृष्टि दोनों सृष्टियों की आवश्यकता नहीं। भाव यह है कि बुद्धि तत्त्व से दो प्रकार की सृष्टि बनती है —१. भाव सृष्टि; २. लिंग सृष्टि। भाव सृष्टि के संक्षेप में धर्म आदि ८ भेद हैं और विस्तार से विपर्यय आदि के ५० भेद कहे जा चुके है। लिंग (बुद्धि) सृष्टि से अहंकार आदि के द्वारा ११ इन्द्रियाँ, ५ तन्मात्राएँ हैं जिसमें स्थूल महाभूत और देह आदि उत्पन्न होते हैं। इस बुद्धि की दो प्रकार की सृष्टि के विषय में यह प्रश्न है कि इस बुद्धि से दो प्रकार की सृष्टि क्यों बनी? क्योंकि एक ही प्रकार की सृष्टि से बुद्धि-सृष्टि का कार्य चल सकता है। इसलिये बतलाते हैं—

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥५२॥

[अन्वय—विना, भावैः लिङ्गं न, विना लिङ्गेन, भावनिर्वृत्तिः, न तस्मात् लिङ्गाख्यः भावाख्यः (च) द्विविधः सर्गः प्रवर्तते।]

भावै:— बुद्धि सृष्टि या प्रत्यक्ष सर्ग के बिना लिङ्ग=तन्मात्र सृष्टि अर्थात् देहादि सृष्टि नहीं होती; क्योंकि शरीर का निर्माण पूर्व संस्कारों के अधीन होता है, इसी प्रकार प्रत्ययसर्ग का स्वरूप और उसकी पुरुषार्थ साधनता बिना तन्मात्र सर्ग के नहीं होती, अत: दोनों प्रकार की सृष्टि अपेक्षित है। यहाँ पर बुद्धि द्वारा होने वाली लिङ्ग सृष्टि से अहंकार और पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चमहाभूत एवं स्थूल देह का ग्रहण किया गया है, तथा भाव सृष्टि से केवल संस्कार रूप धर्मादि का ग्रहण किया गया है। लिङ्ग-सृष्टि के विना भावसृष्टि नहीं होती है। इसलिए बुद्धि (महत्‌तत्त्व से कार्य-कारण रूप दोनों ही प्रकार की सृष्टि माननी चाहिए क्योंकि भोग, भोग्य=शब्दादि के विना तथा भोगायतन =स्थूल शरीर के विना नहीं बन सकता, तथा शरीरादि धर्मादि के विना नहीं बन सकते। अत: मोक्ष की कारण विवेकख्याति उक्त दोनों सृष्टियों के बिना नहीं उत्पन्न हो सकती, इसलिये दोनों प्रकार की सृष्टियों की उत्पत्ति होना आवश्यक है। यद्यपि ऐसा मानने में 'अन्योन्याश्रय' दोष आता है। तथापि 'बीजाङ्कुर न्याय' ये यह दोष नहीं माना जायेगा ॥५२॥

भाष्यम्

अथ यदुक्तं 'भावैरधिवावासितं लिङ्गं' तत्र भावा धर्मादयोऽष्टावुक्ता बुद्धिपरिणामा:,—विपर्ययातुष्टिसिद्धिपरिणता:, स भावाख्या: - प्रत्ययसर्गो, लिङ्गञ्च तन्मात्रसर्गश्चतुर्दशभूतपर्यन्त उक्त: तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौर्थं किमुभयविधसर्गेणेत्यत आह भावै:=प्रत्ययसर्गौर्विना लिङ्गं न=तन्मात्रसर्गेण न, पूर्वपूर्वसंस्काराऽदृष्टकारितत्वादुत्तरोत्तरदेहलम्भस्य लिङ्गेन=तन्मात्रसर्गेण च=विना भावनिर्वृत्तिर्न। स्थूलसूक्ष्मदेहसाध्यत्वाद्धर्मादे: अनादित्वाच्चा सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय, तत्तज्ज तीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यक्तीनां परस्परानपेक्षित्वात्। तस्माद्भूवाख्यो लिङ्गाख्यश्च द्विविध: प्रवर्त्तते सर्ग इति ॥५२॥

अवतरणिका — इस प्रकार प्रत्यय सृष्टि का निरूपण कर चुके। अब भूतादि सृष्टि अर्थात् तन्मात्र सृष्टि आदि शब्द का अर्थ कारण है और भूत शब्द का अर्थ पञ्च-महाभूत हैं, अत: भूतादि शब्द का अर्थ पञ्चतन्मात्राएं हैं।) निरूपण करते हैं—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥

[अन्वय—दैवः अष्टविकल्पः, तैर्यग्योनश्च, पंचधा, भवति, मानुष्यश्च, एकविधः, समासतः, भौतिकः, सर्गः ।]

दैव सृष्टि, ब्रह्मा, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पिशाच भेद से ८ प्रकार की होती हैं। ये आठों लोक माने जाते हैं पितृलोक को ही चन्द्रलोक कहते हैं। इनमें उत्पन्न होने वाले व्यक्ति देव योनि के होते हैं; अतः यह सृष्टि; दैव सृष्टि कहलाती है तिर्यक सृष्टि भी पशु सृष्टि; पक्षिसृष्टि मृगसृष्टि सरीसृप (छोटे पैर वाली या पैर रहित) सृष्टि एवं स्थावर सृष्टि भेद से ५ प्रकार की है। मनुष्य सृष्टि केवल एक ही प्रकार की है। यहाँ मनुष्य को ब्राह्मण आदि जातियाँ विवक्षित नहीं। घट आदि सृष्टि स्थावर आदि सृष्टि में अन्तर्भूत है। इस प्रकार यह १४ प्रकार की सृष्टि है। इसे ही १४ भुवन नाम से कहा जा सकता है ॥५३॥

भाष्यम्

किञ्चान्यत्-तत्र अष्टविकल्पो दैवः दैवमष्टप्रकारं-प्राजापत्यं, सौम्यम्, ऐन्द्रं, गान्धर्वं, याक्षं, राक्षसं पैशाचमिति। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि भूतान्येवं पञ्चविधस्तैरश्चः। मानुषयोनिरेकैव। इति चतुर्दश १४ भूतानि ॥५३॥

———

अवतरणिका—भौतिक सृष्टि में चैतन्य उत्कृष्टरूप और निकृष्ट रूप में रहती है। इस तारतम्य को लेकर भौतिक सृष्टि ३ प्रकार की मानी गई है। इसका ही निरूपण करते हैं—

ऊर्ध्वं सत्त्व वशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

[अन्वय—सर्गः, ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः मूलतः, तमोविशालश्च, मध्ये, रजोविशालः, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ।]

ऊर्ध्वं लोकों में अर्थात् १. स्वर्गलोक; २. चन्द्रलोक; ३. महालोक; ४. तपोलोक; ५. सत्यलोक; ६. द्युलोक; ७. ब्रह्मलोक—इन सात लोकों में

सत्त्व गुण की प्रधानता है, तथा पशु आदि उक्त ५ प्रकार के (अधोलोक तिर्यक् सृष्टि) में तमोगुण की प्रधानता है। भूलोक अर्थात् मध्यलोक में धर्मानुष्ठान होने से तथा दुःख के आधिक्य होने से रजोगुण की प्रधानता है। ये सारे लोक ब्रह्मलोक से लेकर उक्त प्रकार की विशिष्टता रखते हैं। कारिका में आये स्तम्ब-पर्यन्त के लोक हैं अर्थात् ऊपर से नीचे तक ये सब लोक उक्त प्रकार की विशिष्टता रखते हैं। कारिका में आये स्तम्ब का अर्थ है—गेहूँ आदि पौधों का नाल (तना) तथा छोटी लतायें भी स्तम्ब कहलाती हैं। स्तम्ब शब्द वृक्ष का उपलक्षण है ॥५४॥

भाष्यम्

त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यते—ऊर्द्धवमिति। अष्टसु देवस्थानेषु। सत्त्वविशालः=सत्त्वविस्तारः, सत्त्वोत्कट इति। तत्रापि रजस्तमसी स्तः। तमोविशालश्च मूलतः। पश्वादिषु स्थावरान्तेषु सर्वः सर्गस्तमसाधिक्येन व्याप्तः। तत्रापि सत्त्वरजसी स्तः। मध्ये=मानुषे रज उत्कटम्। तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते। तस्माद् दुःखप्रायाः मनुष्याः। एवं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः। ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थं। एवम्—अभौतिकःसर्गो=लिङ्गसर्गो, भावसर्गः भूतसर्गः=देवमानुषतैर्यग्योनी इति। एष प्रधानकृतः षोडशविधः॥

अवतरणिका—इस प्रकार सृष्टि के भेदों को बताकर अब इस सृष्टि से वैराग्य होने में कारणभूत सृष्टि की दुःखरूपता सिद्ध करते हैं—

तत्र जरामरणकृतं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

[अन्वय—तत्र, लिङ्गस्य, अविनिवृत्तेः, चेतनः पुरुषः जरामणकृतं, दुःखं, प्राप्नोति, तस्मात्, दुःखं, स्वभावेन, (भवति)।]

इन लोकों में मिलने वाले शरीर में प्राणी को जरामरण का दुःख अवश्य भोगना पड़ता है। कृमि से लेकर ब्रह्मपर्यन्त मरण का भय व्याप्त हो रहा है। यह ही दुःख का कारण है अतः उक्त १४ लोक दुःखरूप हैं। दुःख प्रकृति से

उत्पन्न होता है अतः बुद्धि का गुण होने के कारण इसका चेतन से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। तथापि यह चेतन आत्मा पुरुष है, क्योंकि यह पुर = लिङ्ग शरीर में शयन करता है। यह लिङ्ग शरीर प्रकृति सम्बन्धी है अतः यह चेतन स्वरूप आत्मा दुःख को भोगता है। लिङ्ग शरीर की पुरुष से अविनिवृत्ति = भेदाग्रह होने से दुःखों का पुरुष में आभास होता है अथवा लिङ्गस्याविनिवृत्ते' इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि पुरुष तब तक दुःख भोगता है जब तक लिङ्ग शरीर के साथ उसका सम्बन्ध बना रहता है। लिङ्ग शरीर के ज्ञान द्वारा नष्ट होने पर अर्थात् जरामरण परम्परा से निवृत्त होने पर चेतन जीव को दुःखानुभव नहीं होता ॥५५॥

भाष्यम्

तत्रेति। तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु जराकृतं मरणकृतं चैव दुःखं चेतनः = चैतन्यवान् पुरुषः प्राप्नोति, न प्रधानं, न बुद्धिर्नाहङ्कारो, न तन्मात्राणीन्द्रियाणि, महाभूतानि च। कियन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोति, तद्विविनक्ति— लिङ्गस्याविनिवृत्तेरिति। यत्तन्महदादिलिङ्गशरीरेणाविश्य तत्र व्यक्तीभवति, तद्यवन्न निवर्तते संसारशरीरमिति तावत् संक्षेपेण त्रिपु स्थानेषु पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति। लिङ्गस्याऽविनिवृत्तेः = लिङ्गस्य विनिवृत्ति यावत्। लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो, मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति। तत् पुनः केन निवर्त्तते? यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं स्यात् सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षणम्, इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार, इमानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि एभ्योऽन्यः पुरुषो विसदृश' इत्येवंज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो मोक्ष इति ॥५५॥

———

अवतरणिका—उक्त प्रकार के कहे गये सृष्टि के कारणों के विषय में अनेक मतभेद हैं। कोई परमाणु को कारण कहता है, कोई अज्ञान को। कोई सृष्टि को नित्य बताता है। अतः इस विषय में लिखते हैं कि—

इत्येषं प्रकृतिकृतौ महदादि विशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः ॥५६॥

[अन्वय—इत्येष प्रकृतिकृतौ, महदादि विशेषभूतपर्यन्तं, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं, स्वार्थं इव, परार्थः, आरम्भः।]

महत् से लेकर पञ्चमहाभूत या विशेष पर्यन्त सम्पूर्ण कार्य समुदाय प्रकृति से उत्पन्न होता है। वह प्रकृति नित्य है। यदि प्रकृति मात्र से ही संसार बनेगा तो हमेशा बनता ही रहना चाहिए प्रलय कभी नहीं होनी चाहिए। अतः लिखते हैं कि प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए ही प्रकृति की प्रवृत्ति है। इसलिये यह परार्थ होती है। यह आरम्भ स्वार्थ के लिए भी कहा जा सकता है; क्योंकि जहाँ पुरुष प्रकृति के बन्धन से छूटता है, वहाँ प्रकृति भी उससे अलग होती है। इसलिए प्रकृति की प्रवृत्ति होना स्वार्थ के समान है। प्रकृति का पुरुष को मुक्त करना ही अर्थ है। स्वार्थचेतना वाले पदार्थ में होती है तथापि स्वाभाविक प्रकृति की प्रवृत्ति को देखकर यहाँ प्रकृति की प्रवृत्ति को स्वार्थ कहा गया है। कारिका में "स्वार्थ इव" इस वाक्य में "स्वार्थे इव" सप्तमी विभक्ति है ॥५६॥

भाष्यम्

प्रकृतेः किंनिमित्तमारम्भ इत्युच्यते—'इत्येष' परिसमाप्तौ निर्देशे च। प्रकृतिकृतौ = प्रकृतिकरणे प्रकृतिक्रियायां, य आरम्भो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः। प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, तन्मात्रेभ्यः पञ्च-महाभूतानी'त्येष, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं = पुरुषः प्रति देवमनुष्यतिर्यग्भावं गतानां विमोक्षार्थमारम्भः। कथम् ?। स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः। यथा किञ्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति, एवं प्रधानम्। पुरुषोऽत्र प्रधानस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति, स्वार्थं इव। न च स्वार्थः, परार्थं एव। अर्थः= शब्दादिविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च। त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योजयितव्याः, अन्ते च मोक्षेणे'ति प्रधानस्य प्रवृत्तिः। तथा चोक्तम्— 'कुम्भवत् प्रधानं, पुरुषार्थं कृत्वा निवर्त्तते इति ॥५६॥

अवतरणिका—अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति असम्भव है अतः उस प्रकृति का कोई अधिष्ठाता भी होना चाहिए और वह सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है। इस शङ्का का समाधान करते हैं :—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

[अन्वय—यथा, अज्ञस्य, क्षीरस्य, प्रवृत्तिः, वत्सविवृद्धिनिमित्तं, तथा, प्रधानस्य, प्रवृत्तिः, पुरुषविमोक्षनिमित्तं (भवति) ।]

अचेतन की भी प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे वत्स के पालन के लिए दूध की प्रवृत्ति स्वतः मातृस्तनों से क्षरण के रूप के होने लगती है। यदि यह कहो कि दूध की प्रवृत्ति भी चेतन आत्मा से अधिष्ठित होने पर ही होती है। अतः प्रकृति की प्रवृत्ति ईश्वराधिष्ठित ही होगी। यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उस ईश्वर को प्रवर्तक तव माना जा सकता है जबकि प्रवृत्ति करने में उसका कोई स्वार्थ हो या उसमें करुणा हो। ईश्वर का कोई स्वार्थ नहीं तथा सृष्टि से पूर्व सब जीव आनन्द में थे। सृष्टि के बाद इन्द्रिय और शरीर की उत्पत्ति के बाद जीवों को दुःख हुआ। सृष्टि के प्रारम्भ के पहिले दिन जीव दुःखी नहीं थे। अतः ईश्वर में कारुण्य आया, यह कल्पना भी नहीं हो सकती। यदि सृष्टि के बाद दुःखी जीवों को देखकर ईश्वर में करुणा आती है। ऐसा कहोगे तो कारुण्य होने पर सृष्टि बनेगी। एवं सृष्टि के बन जाने पर कारुण्य उत्पन्न होगा। यह 'अन्योन्याश्रय" दोष आ जायेगा तथा यदि करुणा से प्रेरित ईश्वर सृष्टि बनायेगा तो सब सुखी ही बनाने चाहिये, यदि कर्मवश से सुखी और दुःखी दोनों प्रकार की सृष्टि होती है; यह कहोगे तो कर्म को ही कारण मान लो। ईश्वर को क्यों कारण मानते हो। अथवा ईश्वर प्रेरणा न होने पर कर्मों में प्रवृत्ति न होगी तथा प्रवृत्ति के न होने पर कर्म के कार्य शरीर इन्द्रिय आदि भी उत्पन्न नहीं होंगे। उनके न होने पर दुःखानुभव भी आत्मा को न होगा। दुःखानुभव न होने पर ईश्वर को परदुःख प्रहाणेच्छा न होगी प्रहाणेच्छा न होने पर सृष्टि न होगी। अतः प्रकृति का अधिष्ठाता ईश्वर को मानना उचित नहीं है। अथवा यदि कर्म प्रेरित ईश्वर कार्य करता है तो यह बतलाइए कि उन कर्मों को कौन प्रेरित करता है क्योंकि अचेतन कार्य स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकते। अतः जैसे अचेतन कर्मों में 'प्रवृत्ति' होती है वैसे ही अचेतन प्रकृति में। इसी प्रकार—"क्षीरस्य यथा प्रवृत्ति" का यह अर्थ समझना चाहिए जैसे मुक्त अन्न तृणादि से अप्रसूता गो के स्तनों में दूध नहीं बनता है न इसके बनाने में कोई गो का ही प्रयत्न होता है और न वत्स का ही। न वही अन्नादि—

खाने पर मनुष्यों के स्तनों में दूध बनता है। अतः यह दूध बनना स्वाभाविक है उसी प्रकार प्रकृति की प्रवृत्ति होती है, यह भाव है।

हमारे मत में प्रकृति को न तो कोई स्वार्थ है और न कोई कारुण्य है। अतः प्रकृति की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। स्वाथ और करुणा का दोष केवल ईश्वर के मानने के पक्ष में आता है। प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के पक्ष में नहीं। अतः ईश्वर से अप्रेरित प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यही मानना उचित है ।।५७।।

भाष्यम्

अत्रोच्यते—अचेतनं प्रधानं, चेतनः पुरुष इति—'मया त्रिषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः पुरुषो योज्योऽन्ते मोक्षः कर्तव्य' इति कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः ?। सत्यं। किन्त्वचेतनामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा, निवृत्तिश्च, यस्मादिस्माह। यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धि करोति, पुष्टे च वत्से निवर्त्तते, एव पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्येति अज्ञस्य प्रवृत्तिरिति ।।५७।।

———

अवतरणिका—स्वार्थ को न रखते हुए भी किस प्रकार प्रकृति की परार्थ प्रवृत्ति होती है। इस रहस्य को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं :—

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ।।५८।।

[अन्वय—यथा, लोकः, औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं, क्रियासु, प्रवर्तते, तद्वत्, अव्यक्तं, पुरुषस्य, विमोक्षार्थं, प्रवर्तते।]

संसार अपने औत्सुक्य (तृष्णा) की निवृत्ति के लिए जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त होता है उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति प्रवृत्ति होती है।

जिस प्रकार इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर उत्सुकता हट जाती है तथा मनुष्य कार्यों के करने से मन हटा लेता है। उसी प्रकार जीवात्मा को मोक्ष दिलाने के बाद प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती। यद्यपि औसुक्य अचेतन प्रकृति में नहीं रहता तथापि पुरुष के विवेक द्वारा साक्षात्कार करने के बाद

प्रकृतिविषयक उत्कण्ठा को दूर कर लेता है। यह पुरुष की उत्कण्ठा का हटना ही प्रकृति की उत्कण्ठा के रूप में यहाँ कहा गया है ॥५८॥

भाष्यम्

किञ्च-यथा लोक इष्टौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते गमनाऽऽगमनक्रियासु कृतकार्यो निवर्त्तते तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दादिविषयोपलब्धिलक्षणं, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा, प्रधानं निवर्त्तते ॥५८॥

अवतरणिका—प्रकृति की निवृत्ति का कारण भोग, अपवर्ग रूप पुरुषार्थ को बताया गया है; तथापि उसकी निवृत्ति का कारण नहीं बताया गया। अतः प्रकृति की निवृत्ति कभी होनी नहीं चाहिये; इसका समाधान करते हैं—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मान प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥

[अन्वय—यथा नर्तकी, रङ्गस्य, दर्शयित्वा, नृत्यात्, निवर्तते, तथा, प्रकृति, पुरुषस्य, आत्मानं, प्रकाश्य, निवर्तते।]

जिस प्रकार रङ्गमञ्च में नर्तकी अपना नृत्य दिखलाती है, तथा दर्शकों को नृत्य से खुश करने के बाद नृत्य करने से विरत हो जाती है। उसी प्रकार प्रकृति पुरुष को अपना रूप दिखाकर उस पुरुष से हट जाती है अर्थात् उसके सामने फिर नहीं आती है; क्योंकि जिस नृत्य रूपी कार्य के लिये वह प्रवृत्त हुई थी वह कार्य कर चुकने पर पुरुष Once more कहकर उसका नृत्य नहीं देखना चाहता है ॥५९॥

भाष्यम्

किञ्चान्यत—यथा नर्त्तकी शृङ्गारादिरसैरितिहासादिभावैश्च निबद्धानि गीतावादित्रनृत्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्यान्निवर्त्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य-बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेननिवर्त्तते ॥५९॥

अवतरणिका—प्रकृति दुवारा पुरुष को अपना कार्य दिखलाने और पुरुष भी उसके कार्यों से प्रसन्न होकर उसके बदले कुछ उसका उपकार कर ही दे। जिस प्रकार एक सेविका अपने सेव्य राजा की आज्ञा पालन करके उससे पारितोपिक पा लेती है; उसी प्रकार प्रकृति को भी कुछ लाभ हो जायेगा तथा इस अवस्था में प्रकृति की प्रवृति परार्थ ही न होकर स्वार्थ के लिए भी होगी। इस शङ्का का समाधान करते हैं कि—

नानाविधैरुपायैरूपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥

[अन्वय—नानाविधैः उपायैः, उपकारिणी, गुणवती, (प्रकृतिः) अनुपकारिणः, अगुणस्य, सतः, तस्य, पुंसः, अर्थम्, अपार्थकं, चरति।]

चाहे कितना ही गुणी सेवक क्यों न हो यदि वह निर्गुण और अगुणज्ञ स्वामी की सेवा करता है तो उसे कोई लाभ नहीं होता। उसी प्रकार सत्वादि गुण वाली, तथा रूप रसादि विषयों का भोग दिलाने के द्वारा उपकार करने वाली यह प्रकृति अनुपकारी एवं निर्गुण असङ्ग पुरुष होने के कारण उस पुरुष का महत् अहङ्कार इन्द्रिय आदि उपायों के द्वारा भोग और अपवर्ग रूपी कार्य बिना ही अपने किसी स्वार्थ के किया करती है। ऐसा ही उसका स्वभाव है ॥६०॥

भाष्यम्

कथं को वाऽस्या निवर्त्तको हेतुः ?। तदाह—नानाविधैरुपायैः प्रकृति पुरुषस्योपकारिणी, अनुपकारिणः पुंसः। कथम् ?। देवमानुषतिर्यग्भावेन, सुख-दुःखमोहात्मकभावेन,—एवं 'नानाविधैरुपायैरात्मानं प्रकाश्य-'अहमन्या' 'त्वमन्य' इति निवर्त्तते। सतो नित्यस्य तस्मामर्थंपार्थकं चरिति=कुरुते यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुरुते, नाऽऽत्मनः प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृति—पुरुषार्थं चरिति=करोत्यपार्थकम्। पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते ॥६०॥

अवतरणिका—जैसे नर्तकी एक वार नृत्य दिखाने के बाद भी दर्शकों की इच्छा होने पर भी उसके अनुरोध से पुनः नृत्य दिखाने लगती है। उसी प्रकार

प्रकृति भी पुरुष को अपना रूप एक बार दिखाने के बाद पुनः दिखाने लगे। इस शङ्का का समाधान करते हैं—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

[अन्वय—प्रकृतेः, सुकुमारतरं, किञ्चित्, न, अस्ति, इति मे, मतिः भवति, या, दृष्टा, अस्मि, इति, पुनः, पुरुषस्य, दर्शनम् न उपैति ।]

प्रकृति एक कुलवधू के समान है तथा उसे पुरुषों के सामने आना संकोचवश रुचिकर नहीं। यह असूर्यपश्या रानी की तरह है। यदि एक बार गोप्य स्थान से वस्त्र विचलित हो गया और उसे पुरुषों ने देख लिया तो फिर उन ही पुरुषों के समक्ष जैसे वह कुलवधू आना उचित नहीं समझती उसी प्रकार यह सुकुमारतर प्रकृति भी विवेक द्वारा पुरुष से देखे जाने पर पुनः उसके सामने महत्त्वादि कार्य समुदाय रूपी हावभावों का प्रकाश करना पसन्द नहीं करती ॥६१॥

भाष्यम्

निवृत्ता च किं करोतीत्याह। लोके प्रकृते सुकुमारतरं न किञ्चदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थं एवं मतिरुत्पन्ना। कस्मात्? अहमनेन पुरुषेण दृष्टा-स्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति। पुरुषस्याऽदर्शनमुपयातीत्यर्थः तत्र सुकुमारतरं वर्णयति। केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते।

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं, नरकमेव वा' ॥

अपरे स्वभावकारणिकां ब्रुवते—

येन शुक्लीकृताहंसा, मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव—इति।

अत्र सांख्याचार्या आहुः—निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्। कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव?। तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। तथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति कृष्णेभ्यः कृष्ण एव इति। एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। तथा—केषाञ्चित् कालः कारणमिति। उक्तं च—

'कालः पचति भूतानि, कालः संहरते जगत् ।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ।।

व्यक्ताऽव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति । स हि व्यक्तः सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणम् । स्वभावोऽप्यत्रैव लीन. । तस्माद् कालो न कारणम् । नापि स्वभाव इति । तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति । न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य । अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं= सुभोग्यतरं, न किञ्चिदीश्वरादि कारणमस्तीति मे मतिर्भवति तथा च लोके रूढम् ।।६१।।

अवतरणिका—यदि पुरुष निर्गुण, निर्विकार और असङ्ग है तो इसका मोक्ष होता है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि क्लेश और कर्माशय जिन्हें बन्धन कहा जाता है, वे उस अपरिणामी पुरुष में नहीं हो सकते । अतः पुरुष का जब बन्धन ही नहीं तो मोक्ष कैसा इस आशङ्का का समाधान करते हैं:—

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रयाः प्रकृतिः ।।६२।।

[अन्वय—तस्मात्, न बध्यते न अपि मुच्यते नापि, कश्चित्, संसरति, नानाश्रया, प्रकृतिः, संसरति, बध्यते, मुच्यते च ।]

सचमुच न कोई पुरुष बंधता है और न मुक्त होता है और न ही संसार में आता है । यह बंध और मोक्ष केवल प्रकृति में ही होते रहते हैं जैसे युद्ध में सेना ही हारती जीतती है किन्तु राजा की जीत और हार कही जाती है । उसी प्रकार अनेक पुरुषों के आश्रय में रहने वाली प्रकृति ही संसार में आती है, जाती है, बन्धन को प्राप्त करती है और मोक्ष को प्राप्त करती है । विवेक न होने के कारण बंध और मोक्ष का पुरुष में भी गौण व्यवहार किया जाता है ।।६२।।

भाष्यम्

'पुरुषो मुक्तः' 'पुरुषः संसारी'ति नोदिते आह—तस्मात् कारणाद् पुरुषो न बध्यते, नापि मुच्यते, नापि संसरति, यस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव,

नानाश्रया = दैवमानुपतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते, मुच्यते, संसरति चेति। अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति? अप्राप्तप्रापणार्थं संसरणमिति तेन पुरुषो बध्यते, पुरुषो मुच्यते, पुरुष संसरती'ति व्यपदिश्यते, येन संसारित्वं विद्यते। सत्त्वपुरुषान्तरज्ञानातत्त्वं पुरुषस्याऽभिव्यज्यते। तदभिव्यक्तौ केवलः, शुद्धः, मुक्तः, स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति। अत्र यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति, ततो मोक्षोऽपि नास्ति। अत्रोच्यते—प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति, मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं त्रिविधकरणोपेतं, तत् त्रिविधेन बन्धेन बध्यते। उक्तञ्च—

'प्राकृतेन च बन्धेन, तथा वैकारिकेण च।
दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते'॥

तत् सूक्ष्मं धर्माऽधर्मसंयुक्तम् ॥६२॥

अवतरणिका—बन्धन मोक्ष और संसरण तीनों प्रकृति में होते हैं, आत्मा के विषय में इनका गौण रूप से प्रयोग होता है। किन्तु ये बन्धन आदि किस कारण से प्रकृति में रहते हुए पुरुष में वह व्यवहार कराते हैं इस शङ्का का समाधान करते हैं—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥

[अन्वय—प्रकृतिः सप्तभिः, एव, रूपैः, आत्मना, आत्मानं बध्नाति, सा एव, च, एकरूपेण, पुरुषार्थं, प्रति विमोचयति।]

उक्त धर्माधर्मादि सात रूपों से युक्त प्रकृति अपने आप आपको बाँधती है। इनमें आठवाँ रूप जो ज्ञान है वह बन्धन का कारण नहीं होता। वही प्रकृति मोक्ष रूप पुरुषार्थ प्राप्त कराने के समय उक्त बद्ध पुरुष को ज्ञान या तत्त्वज्ञान रूप द्वारा बन्धन से मुक्त करा देते हैं ॥६३॥

भाष्यम्

"प्रकृतिश्च बध्यते प्रकृतिरेव मुच्यते, संसरती'ति कथम्?। तदुच्यते—रूपैः सप्तभिरेव। एतानि सप्त प्रोच्यन्ते-धर्मो, वैराग्यमैश्वर्यंधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम्। एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि। तैरात्मानं=स्वं बध्नाति प्रकृतिः।

आत्मना = स्वेनैव । सैव प्रकृतिः पुरुषस्यार्थं = 'पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इति । विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण = ज्ञानेन ॥६३॥

———

अवतरणिका — इस तत्त्व को जानने पर क्या लाभ होता है, यह वतलाते हैं। अथवा जिस ज्ञान से मोक्ष होना है वह ज्ञान किससे उत्पन्न होता है और किस आकार का होता है ? यह बताते हैं—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६३॥

अन्वय—एवं तत्त्वाभ्यासात् नास्मि, न मे, न अहम्, इति, अपरिशेषम् अविपर्ययाद्, विशुद्धम्, केवलं, ज्ञानम् उत्पद्यते ।]

इस प्रकार तत्त्वविषयक ज्ञान का अभ्यास करते-करते सुदीर्घ काल के अनन्तर प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का साक्षात्कार करा देने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है। जिसका स्वरूप 'नास्मि' अर्थात् 'मैं कर्त्तव्य रहित हूँ' मुझ में कोई क्रिया अतएव मैं बुद्धि से भिन्न हूँ एवं मैं "अहन्ता" के भाव से रहित हूँ।

'न मे' मुझमें सुख-दुःख नहीं 'नाहं' मैं अहंकार से भिन्न हूँ। इस प्रकार का सम्वन्धविशेषशून्य, विशुद्ध अत्यन्त पवित्र ज्ञान विपर्यय अर्थात् संशय, मिथ्या ज्ञान और भ्रान्ति के नाश हो जाने के वाद उत्पन्न होता है। वह स्वरूप भूत होने से कभी नष्ट नहीं होता। भाव यह है कि तत्त्वज्ञान की विशुद्धता संशय और विपर्यय का न होना है। अतएव 'अविपर्ययात्' यह पंचमी, हेतु पंचमी है तथा "विपर्यय के न होने से ही ज्ञान विशुद्ध होता है" यह सिद्ध करती है। एवं विपर्यय शब्द संशय का भी उपलक्षक है। अभ्यास से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता

जैसे योगवाशिष्ठ में लिखा है कि—

तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं तत् प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ इति ॥
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता ।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानुसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥

रहे तथा अनादि मिथ्याज्ञानों के संस्कार से संसार भी चलता रहे यह दोनों ही साथ-साथ बने रहें, इसका उत्तर "केवलम्" विशेषण से दिया गया है, क्योंकि लिखा है कि "अत्वपाक्षपातो हि धियाम् स्वभाव:" तत्वज्ञान से मनोनाश होता है। मनोनाश से वासना क्षय होती है। इन तीनों के करने के लिये मनुष्य यत्न करता है। श्रवण आदि साधनों से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। योग करने से मनोनाश तथा प्रतिकूल भावना से भावना क्षय होता है। जैसा कि लिखा भी है—

द्वौ क्रामौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव:।
योगो *वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ।।

अत: तत्त्वज्ञान होने पर प्रकृति पुरुष की एकता बुद्धि रूप मिथ्याज्ञान रह ही नहीं सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञान केवल एकरूपता का ही होता है। 'अस्मि' पद क्रिया या व्यापारमात्र का आत्मा में सम्बन्ध नहीं होता यह बताता है 'अहं' पद निष्क्रिय होने से ही आत्मा अकर्ता वा असग है। 'मे' पद स्वामिता का निराकरण करता है अथवा ना = पुरुष: अस्मि' इस प्रकार परिच्छेद करने से 'नृ' शब्द का 'ना' प्रथमा का एकवचनान्त रूप है। मैं पुरुष हूँ अतएव स्त्री-

---

१. इनमें शुभेच्छा – नित्यानित्य वस्तु विवेकादि चारों अनुबन्धों के सहित 'मुमुक्षता' ही है।
२. वेदान्त वाक्यों को सुनकर मनन करना विचारण है।
३. निदिध्यासन से मन की एकाग्रता होती है, तीनों सिद्धियाँ मन की एकाग्रता में सहायता करती हैं। इन्हें जाग्रद्वस्था भी कहते हैं।
४. चौथी भूमिका को प्राप्त पुरुष 'ब्रह्मविद्' कहाता है।
५. पंचम अवस्था असंसक्ति की है इसे प्राप्त व्यक्ति 'ब्रह्मविद्वर' कहाते हैं। इस भूमिका को सुपुप्ति भी कहते हैं। यह निर्विकल्पक समाधि है।
६. असंसक्ति की चिरस्थिति करने वाला व्यक्ति 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहाता है।
७. जिस समाधि से मन कभी न हटे यह तुरीय अवस्था है। इसे प्राप्त व्यक्ति 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहाता है।

*असाध्य: कस्यचिद् योग: कस्यचित्तत्त्वज्ञविनश्चय:।
प्रकारौ द्वावतौ देवो जगाद परमेश्वर' ।।

जातिगत धर्मों से रहित हूँ। स्त्रीजाति प्रसवधर्मिणी होती है। अतः प्रकृति ही स्त्रीजाति विशिष्ट होने से प्रसवधर्मिणी है। पुरुष=प्रसव अर्थात् परिणाम धर्म वाला नहीं है। इस तत्त्वज्ञान के होने पर क्या कहीं अज्ञान का अंश शेष रह जाता है या नहीं। इसका समाधान 'अपरिशेषम्' पद से किया गया है, अर्थात् जब ज्ञान होता है तब अज्ञान का समूल तथा सम्पूर्णतया नाश हो ही जाता है। अतः पुनः बन्धन का कारण अज्ञान नहीं रह जाता है।.६४॥

भाष्यम्

कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यन ते ? एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचनाभ्यासात् 'इयं प्रकृतिः' अयं पुरुषः, एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानी'ति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते। नास्मि - नाहमेव भवामि। न-मे=मम शरीरं तत्, यतोऽहमन्यः, शरीरमन्यत्। नाहमित्यपरिशेषम् अहङ्काररहितम्। अविपर्ययाद्विशुद्धम्। विपर्ययः =संशयोऽविपर्यया संशयाद्विशुद्धं=केवलं, तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यते =अभिव्यज्यते, ज्ञानं=पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति ॥६४॥

———

अवतरणिका—इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से क्या लाभ होता है? इसका उत्तर देते हैं—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥६५॥

[अन्वय—तेन, प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः, पुरुषः, निवृत्तप्रसवाम् अर्थवशात्, सप्तरूपविनिवृत्ताम्, प्रकृतिं, पश्यति।]

भोग और विवेक साक्षात्कार उन दोनों को प्रकृति उत्पन्न कर चुकी। अब वह निवृत्तप्रसवा बन चुकी तथा विवेक ज्ञान रूपी अर्थ के वश=सामर्थ्य के कारण उस प्रकृति के धर्माधर्मादि सातों रूप से निवृत्त हो चुके। अतः अवस्थित =निष्क्रिय एवं स्वस्थ=रजोगुणी वाली या तमोगुण वाली बुद्धि से पृथक्भूत जीवात्मा नाटक के देखने वाले पुरुषों की तरह निर्लिप्त भाव से प्रकृति को देखा करता है।

तत्त्वज्ञानकाल में भी सात्त्विक बुद्धि से जीवात्मा का सम्बन्ध रहता ही है, अन्यथा सप्त रूपों से रहित प्रकृति का ज्ञान दर्शन करना भी असम्भव हो जायेगा ॥६५॥

भाष्यम्

ज्ञाने पुरुषः किं करोति ? । तेन = विशुद्धेन केवलज्ञानेन, पुरुष प्रकृतिं पश्यति, प्रेक्षकवत् = प्रेक्षकेण तुल्यम् । अवस्थितः स्वस्थः । यथा रङ्गप्रेक्षकोऽवस्थितो नर्त्तकीं पश्यति, स्वस्थः–स्वस्मिंस्तिष्ठति स्वस्थः = स्वस्थानस्थितः । कथंभूता प्रकृतिम् ? । निवृत्तप्रसवां – निवृत्तबुद्ध्यहङ्कारकार्याम् । अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां, निर्वर्जितपुरुषोभयप्रयोजनवशाद्, ये सप्तमी रूपैर्धर्मादिभिरात्मानं बध्नाति, तेभ्यः सप्तभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्तां प्रकृतिं पश्यति ॥६५॥

अवतरणिका—अभी प्रकृति को "निवृत्तप्रसवा" कहा गया है यह उचित नहीं, क्योंकि वह प्रसव २१वीं कारिका के अनुसार संयोगकृत = प्रकृति पुरुष सम्बन्ध प्रयुक्त है। यह संयोग पगु और अन्धे के समान मार्गोपष्ट्रत्व और मार्गोंपदेशयत्व रूप है । यही उन दोनों की योग्यता है, उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति में क्रमशः भोक्तृत्व योग्यता और भोग्यत्व योग्यता अथवा दर्शनशीलता और गतिशीलता रूप योग्यता ही संयोग है । इन तीनों योग्यताओं की निवृत्ति नहीं हुई । अतः सयोग की निवृत्ति नहीं हुई । उसके न होने से पुनः शब्दादि का उपभोग हो सकता है । इसका समाधान करते हैं कि—

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥६६॥

[अन्वयः—दृष्टा (रङ्गस्थः), इति, उपेक्षकः, एकः, दृष्टाः, अहम्, इति, एकः, उपरमिति, तयोः, संयोगे सत्यपि, सर्गस्य, प्रयोजनम् नास्ति ।]

यह योग्यत्व = योग्यता वाली प्रकृति जिसने अभी तक विवेकख्याति को जन्म नहीं दिया । शब्दादि का उपभोग भले ही करावे; किन्तु 'ख्याति' करा देने वाली प्रकृति शब्दादि के उपभोग को नहीं करा सकती; क्योंकि उपभोग का कारण अविवेक है और वह नष्ट हो चुका है । अतः जैसे बीज के न होने से अंकुर नहीं होता वैसे अविवेक के न होने से शब्दादि का उपभोग भी नहीं हो सकता ।

कारिका का शब्दार्थ यह है कि एक = पुरुष—मैंने प्रकृति को देख लिया है उसके अनित्यत्व विकारित्व, अस्थिरत्व, दुःखरूपत्व आदि स्वरूप को पहचान

लिया है जो मुझसे (मेरे स्वरूप) से सर्वथा भिन्न हैं—यह मानकर उस की पुनः कौतुक से प्रकृति के दर्शन की इच्छा नहीं रखता, प्रत्युत उपेक्षा करता है। दूसरी ओर चन्द्रिकाकार का कथन है कि पुरुष वह जान चुका है कि मेरे सम्पर्क से मुझ से भिन्न यह प्रकृति मुझे ही बाँधती है अतः वह पुरुषवन्धन-पंक से हट जाता है। जैसे जो नर्तकी उस ही प्रकार का वार-वार नृत्य दिखाती हो, उसकी ओर से सब उदासीन हो जाते हैं; क्योंकि उसमें कोई नवीनता नहीं हैं। उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृति की उपेक्षा करता है। प्रकृति भी मेरे पास कोई नवीन वस्तु नहीं है जिसे मैं दर्शकों को दिखाऊँ। अत वार-वार उन्हीं तीन गुणों को दिखलाने में संकोच करती हुई उसका दिखाना वन्द कर देती है। अतः उन दोनों में भोक्तृत्व और भोग्यत्व योग्यता रूपी संयोग के होने पर भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि प्रयोजन (प्र + युज्यते + अनेन इति प्रयोजनम् सहकारिकारणम्) जैसे मिट्टी में वीज के डालने पर भी जल आदि सहकारी कारण के न होने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही पुरुष और प्रकृति के होने पर भी इच्छा रूपी सहकारी कारण के न होने पर भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती। यहाँ भोग और अपवर्ग इन दोनों को सहकारी कारण माना गया है। उसके न होने से सृष्टि रूपी कार्य की उत्पत्ति सर्वदा के लिये निरुद्ध हो जाती है ॥६६॥

भाष्यम्

किञ्च रङ्गस्थ इति। यथा रङ्गस्थ इत्येवमुपेक्षकः एकः = केवलः शुद्धः पुरुषस्तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता निवृत्ता एका = एकैव प्रकृतिः, त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति, मूर्तित्रधे जातिभेदात्। एवं प्रकृतिः पुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति, न तु संयोगात् कृतः सर्गो भवति। सति संयोगेऽपि तयोः = प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे, प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य—सृष्टेः चरितार्थत्वात्। प्रकृतेर्द्विविध प्रयोजनं शब्दविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च। उभयत्रापि चरितार्थत्वात्-सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं, येन पुनः सर्ग इति। यथा दानग्रहणनिमित्तं—उत्तमर्णाधमर्णयोर्द्रव्यविशुद्धौ सत्यपिसंयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धो भवति। एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति ॥६६॥

अवतरणिका—यदि पुरुष तत्त्व साक्षात्कार के बाद ही मुक्त हो जाता है। तो उसका शरीर न रहेगा। शरीर न होने पर प्रकृति का दर्शन न होगा तथा तत्त्वज्ञान होने पर भी यदि शरीर नष्ट नहीं होता तो समझना चाहिये कि उसके प्रारब्ध और संचित कर्म नष्ट नहीं हुये और वे कभी नष्ट न होंगे तथा मुक्ति की आशा आकाशकुसुमवत् रह जायेगी जिस प्रकार अग्नि से काष्ठ का दाह होता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से कर्मों का नाश होता है लिखा भी है—

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन।"

अतः तत्त्वज्ञान से कर्म नाश, कर्म नाश से देहनाश मानना उचित है, देह-नाश हो जाने पर प्रकृति पुरुष विवेक साक्षात्कार नहीं हो सकता है। विवेक साक्षात्कार न होने पर सांख्यशास्त्र का उपदेश व्यर्थ सिद्ध होता है। इसका समाधान करते हैं—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवत् धृतशरीरः ॥६७॥

[अन्वय– सम्यग्ज्ञानाधिगमात्, धर्मादीनाम्, अकारण प्राप्तौ, संस्कार-वशात्, चक्रभ्रमवत्, धृतशरीरः, तिष्ठति।]

कर्मों का नाश भोग से नहीं हो सकता; क्योंकि भोग का कोई समय नियत नहीं और कर्मों की इयत्ता भी नहीं अतः तत्त्व साक्षात्कार से अनादि और अनन्त कर्माशय दग्ध हो जाता है। जिस प्रकार भुने बीजों से अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार दग्ध कर्मों से जन्मादि उत्पन्न नहीं होते। कर्म रूपी बीज बुद्धि रूपी भूमि में क्लेश रूपी जल से सिक्त होने पर भोग रूपी अंकुर को उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञान रूपी ग्रीष्म से क्लेश रूपी सलिल के सुखा देने पर ऊपर बनी हुई बुद्धि रूपी भूमि में कर्म रूपी बीज भोग रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः तत्त्वज्ञान से धर्मादि के कारणत्व रूपी धर्म के नष्ट कर देने पर जिस प्रकार कुम्हार का चाक दण्ड के हटा देने पर भी वेग रूपी संस्कार के कारण घूमता ही रहता है और कालवश से स्वयं संस्कार के नष्ट होने पर रुक जाता है उसीप्रकार तत्त्वज्ञान ने प्रारब्ध कर्मों के फल देने वाले धर्म और अधर्म के संस्कारों के कालवश से भोग के द्वारा नष्ट होने पर शरीर नष्ट होता है। अतः